मंगल विमर्श

वर्ष 1, अंक 2, अप्रैल–2015
बैशाख, वि॰ सं॰ 2072 ₹50

त्रैमासिक

अंदर के पृष्ठों पर

06-13
हमारा आत्म-बोध

14-22
हिन्दी में ज्ञानपरक लेखन की स्थिति और संभावनाएँ

33-43
वैदिक मूल्य परंपरा और संक्रांति

52-56
वृक्ष हमारे मित्र हैं

23-27
भारतीय इतिहास का विद्रूपीकरण

28-32
शिक्षा का दुरुपयोग

44-47
पहला सुख नीरोगी काया

48-51
अमर्यादित संबंधों की विकृतियाँ

57-58
इतिहास भी है धर्मांतरण का

59-66
हिन्दी, देवनागरी और अनुशासन

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

प्रधान संपादक
ओमीश परुथी

संपादक
सुनील पांडेय

संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल

प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

प्रकाशक एवं मुद्रक आदर्श गुप्ता द्वारा मंगल सृष्टि सी-84, अहिंसा विहार, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-110085 के लिए प्रकाशित एवं एक्सेल प्रिंट, सी-36, एफ एफ कॉम्पलेक्स, झंडेवाला, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

RNI
DELHIN/2015/59919
ISSN
2394-9929
ISBN
978-81-930883-0-2

फोन नं.
+91-9811166215
+91-11-27565018
ई-मेल
mangalvimarsh@gmail.com
वेब साइट
www.mangalvimarsh.in

मंगल विमर्श पत्रिका में व्यक्त विचारों के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी है संपादक का उनसे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

। मानव मंगल के मर्मज्ञ साधक ।

स्वामी विवेकानंद

अथ

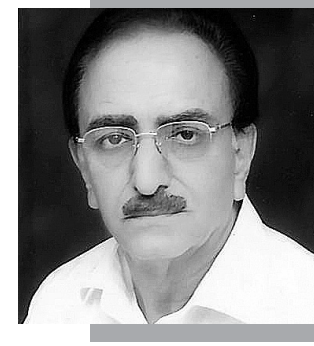

ओमीश परुथी
एसोसिएट प्रोफेसर (से.नि.)
प्रधान संपादक

भारतीय चिंतन विश्व मंगल की भावना से अनुप्राणित है। धर्म, दर्शन व नीति हो अथवा वेद, पुराण व अन्य आर्ष ग्रंथ, सबमें सर्वहितकारिता की वृत्ति अनुस्यूत है, सब मंगल कामना से आप्लावित हैं। मंगल कामना मात्र मानव की ही नहीं, उसके चतुर्दिक परिवेश–अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियों तक की। यह कामना अपूर्व है, अद्‌भुत है; विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। हमारे मनीषियों ने तो संपूर्ण विश्व को एक कुटुंब के रूप में देखा। यह उनकी स्तुत्य उदारता व उदात्तता है।

आधुनिक युग में जिस मानवतावाद का उद्‌घोष हुआ, उसकी पूर्वपीठिका हमारे मनीषियों की ही देन है। रवींद्रनाथ ठाकुर लिखते हैं–घर और गाँव के क्षुद्र संबंधों से ऊपर प्रत्येक व्यक्ति का विश्व के साथ योग संपादन करने के लिए हिंदू धर्म ने ही पथ दिखाया।

वास्तव में मानव-विकास की यात्रा स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से आभ्यंतरिक, स्वार्थ से परार्थ, घृणा से संवेदना की ओर बढ़ी। सद्‌भाव एवं सर्वहितकारिता ने मानव जीवन को सार्थकता प्रदान की। हमारे महापुरुषों व संतो ने सब जीवों में परम सत्ता के दर्शन किए। सब को एक नूर से उद्‌भासित माना।

उपनिषदों के तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने ब्रह्म में प्राणी जगत् तथा प्रकृति जगत् का एकत्व देखा। जिस प्रकार सूर्य का तेज ब्रह्मांड के कण-कण में समा जाता है, उसी प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांड ब्रह्म के तेज से व्याप्त है–

एकोदेवः सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

स्वामी विवेकानंद ने अद्वैतवाद की मानवतावादी व्याख्या की, उसका व्यावहारिक पक्ष उजागर किया। प्रत्येक मानव–छोटा या बड़ा, अधम या आदर्श, पंगु या पूर्ण; सब में उस परम ब्रह्म के दर्शन किए। इस परम सत्य को यदि मानव आत्मसात कर ले तो अपने-पराये, का भेद समाप्त हो जाता है। सभी उस ईश्वर की संतान हैं तो सब समान हैं, प्रिय हैं, स्वीकार्य हैं। किसी के प्रति द्वेष या जुगुप्सा फिर हृदय में पैदा ही कैसे होंगे, पैदा होगा तो सब के प्रति स्नेह, सद्‌भाव व सौहार्द, मात्र मंगल, केवल कल्याण। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस तथ्य को रेखांकित करते हुए कहा है–

जड़ चेतन जग जीवगत, सकल राममय जानि।
बन्दउ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

उन्होंने लोक कल्याण को महत्त्व देते हुए उसे धर्म का सार माना है–'परहित सरिस धरम नहिं भाई।' इससे बढ़कर धर्म की व्याख्या नहीं की जा सकती। उन्होंने अपने आराध्य राम से भी 'परहित' के अवदान की विनती की है–

श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगे।
परहित निरत निरंतर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगे॥

लोकहित को उन्होंने उत्तमता की कसौटी के रूप में अपनाया। कीर्ति, कविता और संपत्ति वही उत्तम है जो गंगा के समान सबका हित करने वाली हो। हमारे धर्म की यह विशिष्टता है वह देवता, ऋषि, पितृ-पुरुष, समस्त मानव जाति और पशु-पक्षी के साथ मंगल एवं समरस संबंध की प्रेरणा देता है। कामायनीकार प्रसाद जी ने भी अपने महाकाव्य में इसे साकार किया–

समरस थे जड़ या चेतन,
सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती,
आनंद अखण्ड घना था।

बनवारी

हमारा आत्म-बोध

वंशानुगत आत्मबोध से बढ़कर ज्ञानात्मक आत्मबोध है जो हमें प्राचीन ऋषियों से जोड़ता है। इसके पीछे यह अवधारणा है कि मानव जिज्ञासु हो सत्य का अन्वेषक व धारक होने की क्षमता रखता है।

सृष्टि के निरंतर प्रवाह में हमारा जन्म हुआ है। इसलिए हमारा परिचय हमारे जन्म और हमारी मृत्यु के बीच की अवधि तक सीमित नहीं रह सकता। आधी शताब्दी पहले तक विश्व भर में अपना परिचय व्यक्तिवादी संज्ञा के रूप में देना अशिष्ट समझा जाता रहा है। शिष्ट परिचय यही था कि हम किसके पुत्र या पुत्री हैं। इस सामान्य परिचय का विस्तार कुटुंब, क़बीले या क्षेत्र तक किया जाता रहा है। भारत में तो

सामाजिक परंपराएँ कई हजार वर्ष पहले अपनी पूर्णता को प्राप्त कर चुकी थीं। इसलिए सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर अपने कुल-नाम का उच्चार करने की ही परंपरा रही है। कुल समाज की मूलभूत इकाई है जो हमारे सामाजिक व्यवहार की दिशाएँ और मर्यादाएँ स्थिर करती है। कुल का महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि वह रक्त संबंधों से जुड़ी ज्ञात अनेक पीढ़ियों की संज्ञा है। कुल का महत्त्व इसलिए भी है कि उससे हमें पूर्वजों से मिले अपने दाय का बोध होता है। इस दाय का निर्माण हमारे पूर्वजों के पुरुषार्थ से हुआ है। यह दाय उनकी भौतिक उपलब्धियों से अधिक उनकी सत्यनिष्ठा, वीरता, न्यायशीलता, दानप्रियता, ज्ञान या कौशल के रूप में ही देखा जाता रहा है। कुलाचार के रूप में ही हमारे सामाजिक जीवन के सारे विधि-निषेध हमें प्राप्त होते रहे हैं, जिन्हें देशकाल के अनुरूप ढालते रहना ही परंपरा है। इसका उदाहरण 'रामचरित मानस' में दशरथजी द्वारा कही गई इस उक्ति से बड़ा क्या होगा? ''रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाएँ पर वचन न जाई।''

इस आत्मबोध को भारत में चाहे जितनी परिपक्वता मिली हो, पर वह किसी-न-किसी रूप में विश्व भर में प्रचलित रहा है। यह आत्मबोध वंशानुगत है और उसकी स्वीकारोक्ति विश्व के सभी समाजों में रही है। पर भारत में आत्मबोध से भिन्न और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक और आत्मबोध है, वह है हमारा गोत्र। कुल की तरह हमारे गोत्र का संबंध हमारे रक्त संबंधी किसी प्रतापी पूर्वज से नहीं है। गोत्र के रूप में हम उन ऋषियों से जुड़ते हैं जो सत्य के मंत्र के द्रष्टा हैं और जिनसे जुड़कर हम भी सत्य के धारक हो जाते हैं। भले ही चित्त पर आच्छादित संस्कारों के कारण अभी हमें उसकी स्मृति हो या न हो। पर ऋषियों के इस दाय के कारण हम सत्य को, उस निर्विकल्प सत्ता के बोध को प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं जो इस चराचर जगत् के मूल में है। यह एक ऐसा विलक्षण संबंध है जो हमें विश्व के अन्य सभी समाजों से अलग करता है। यह संबंध ज्ञानात्मक है और वह हमारे समाज के हर व्यक्ति को ज्ञान का धारक घोषित करता है। भागवत में ऋषियों को ब्रह्मा का मानस पुत्र बताया गया है। उनका महत्त्व यही है कि उन्होंने सत्य को देख, उसे धारण किया और समाज में प्रवाहित किया। वे मंत्र के द्रष्टा हैं क्योंकि मंत्र के रूप में ही सत्य का बोध समाज की ज्ञान परंपरा का अंग बन सकता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि पुराणों में आदि ऋषियों का स्थान देवताओं के समकक्ष और कहीं-कहीं तो उनसे भी ऊपर है। समाज में भी इस ज्ञानात्मक आत्मबोध को वंशानुगत

गोत्र एक ऐसा विलक्षण संबंध है जो हमें विश्व के बाकि सभी समाजों से अलग करता है। यह संबंध ज्ञानात्मक है और वह हमारे समाज के हर व्यक्ति को ज्ञान का धारक घोषित करता है।

आत्मबोध से सदा अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। किसी भी संकल्प के समय होने वाले नामोच्चार में पहला स्थान गोत्र का ही है।

गोत्रों का प्रवर्तक आदि ऋषियों और उनके पुत्रों को माना गया है। हमारा वाङ्मय बहुत विस्तृत है और लंबे समय तक वह मौखिक परंपरा द्वारा रक्षित और वर्धित किया जाता रहा है। इसीलिए इन गोत्र प्रवर्तकों के नामों और उनकी संख्या के बारे में विभिन्न वर्णनों में कुछ भिन्नता मिल सकती है। कुछ गोत्र बाद में ऐसे लोगों से भी शुरू हुए जिन्हें समाज में ऋषि मान लिया गया। काल के प्रवाह में यह सब होना स्वाभाविक ही है। ''मुख्य बात है समाज में गोत्र की इस परंपरा की व्याप्ति और उसका महत्त्व। ब्रह्मवेत्ता होने के कारण ऋषि ब्राह्मण माने गए, उनके द्वारा गोत्र माने गए, लेकिन उनके द्वारा प्रवर्तित गोत्र ब्राह्मणों तक सीमित नहीं रहे। पुरोहितों का गोत्र ही उनके यजमानों का गोत्र माना गया और इस तरह यह संबंध पूरे समाज में व्याप्त हो गया।'' यहाँ तक विधान कर दिया गया कि जिन्हें अपने गोत्र का विस्मरण हो गया है या जिनका गोत्र ज्ञात नहीं है वे अपने आपको काश्यप गोत्रीय कह सकते हैं क्योंकि आदि ऋषियों में वे अग्रगण्य हैं। सबको गोत्र बोध से संपन्न करने की क्या इससे उदार कोई और विधि हो सकती है?

भारतीय सभ्यता को परिभाषित करने के लिए इस बात को समझना और ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत में सदा व्यक्ति के ज्ञानात्मक आत्मबोध को उसके वंशानुगत परिचय पर वरीयता दी जाती रही है। पश्चिम की तरह भारत में मनुष्य की अवधारणा एक तार्किक व्यक्ति की नहीं है जो अपने भौतिक जीवन और उसके सुख और सुविधाओं को ही परम साध्य समझता है। बल्कि उसकी अवधारणा एक ऐसे ज्ञानवान प्राणी के रूप में की गई है जो परम सत्य का धारक है और उस तक पहुँचने का मार्ग या तो जानता है या जानने की योग्यता रखता है। यह मार्ग उसके भौतिक जीवन से होकर ही है। इसलिए अपने भौतिक जीवन को उन्नत बनाना भी उसका अभिधेय है। पर भौतिक जीवन की उन्नति नैतिक नियमों के अनुरूप ही होनी चाहिए। इस तरह भारत में मनुष्य की अवधारणा इंद्रिय सुख के कामी एक तार्किक

शास्त्र में निषेधों की स्थिति विधि से ऊपर है। निषेधों में सबसे अधिक महत्त्व सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य रूपी पाँच यमों को दिया गया है

भारत में सदा ही राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सारा का सारा तंत्र इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए खड़ा किया जाता रहा है कि वह यहाँ के लोगों को अपने कर्तव्य पालन में, विधियों को आत्मसात करके उनके अनुरूप आचरण में सहायक हो सके।

व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि एक नैतिक व्यक्ति के रूप में ही की गई है।

और सभी समाजों की तरह भारत में भी यह बताने का प्रयत्न किया गया कि भारत भूमि और उसमें रहने वाले लोग विश्व के बाकी लोगों से किस रूप में अलग हैं। भारत भूमि की विलक्षणता को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि भारत भूमि कर्मभूमि है, जबकि विश्व की अन्य भूमियाँ भोग भूमियाँ हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत के लोगों का जीवन कर्म प्रधान है, जबकि विश्व के अन्य सब लोगों का जीवन भोग प्रधान है। कर्म प्रधान जीवन वह है जिसमें सद्-असद् का भेद करते हुए, उचित-अनुचित का भेद करते हुए और कर्तव्य-अकर्तव्य का भेद करते हुए जिया जाए। क्योंकि इस तरह किया गया कार्य ही हमारी नैतिक उन्नति में सहायक हो सकता है और हमारा नैतिक उन्नयन करते हुए सत्य के बोध के निकट ले जा सकता है। भोग प्रधान जीवन वह है जहाँ मनुष्य की सारी अभीप्सा इंद्रिय सुख को बढ़ाने की ही होती है।

हमारे भौतिक जीवन के विस्तार के साथ-साथ हमारे भौतिक साधनों का भी विस्तार होता रहा है। यह एक सहज और अनिवार्य प्रक्रिया है, क्योंकि मनुष्य की जिज्ञासा उसे सदा अपने भौतिक जीवन का नई-नई दिशाओं में विस्तार करने के लिए प्रेरित करती रहती है। लेकिन अपने भौतिक जीवन का विस्तार करते हुए उसे मर्यादित करते रहना भी उतना ही आवश्यक है। इसलिए भारत में सदा इस बात पर जोर दिया गया है कि हम अपने सुखों का विस्तार विवेकपूर्वक ही करें। भारत के लोग विकास की ऐसी अवधारणा को कभी स्वीकार नहीं कर सकते जो भौतिक जीवन के विस्तार को एक ऐतिहासिक नियति मानकर चलती है और उसमें मनुष्य के विवेक की भूमिका गौण ही मानती है। भारत के लोगों के लिए

क्या खाएँ, क्या पहनें, कैसे घर में रहें भौतिक जीवन का सुख बढ़ाने वाली वस्तुओं में से किनका उपयोग करें, किनका न करें, कैसे खेती करें, कैसे उद्योगतंत्र खड़ा करें, कैसी वित्तीय व्यवस्था बनाएँ, कैसी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ हों और हमारा सामाजिक व्यवहार किस तरह का हो, यह सब नैतिक प्रश्न हैं या अपनी शब्दावली में कहें तो धार्मिक प्रश्न हैं।

अब हम अपना सारा राजनीतिक तंत्र पश्चिम के अनुकरण पर खड़ा कर रहे हैं। उसकी विधायी प्रक्रिया यूरोपीय विचारों से संचालित है।

यूरोपीय सभ्यता में नैतिक निर्णय भी तार्किक निर्णयों की एक कोटि माने गए हैं। भारत में सभी नैतिक निर्णय विधियाँ हैं जिनका मूल आत्मा में है। पुराणों में जब यह कहा गया कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सबसे पहले वेद की सृष्टि की तो उसका तात्पर्य यही है कि सबसे पहले सृष्टि के नियामक नियम और उससे निकलने वाली विधियों का निर्धारण हुआ। 'मीमांसा' ने वेद की परिभाषा विधि-निषेध के रूप में ही की है। इस बात को ठीक से समझने के लिए याद रखना आवश्यक है कि सृष्टि का मूल चेतन सत्ता में ही है और उसी से सृष्टि के नियामक नियम निकलते हैं। इन नियामक नियमों के सबसे स्थूल रूप विधियों को अर्थात् उचित-अनुचित कर्म को ही हम जानते हैं। उन्हें ग्रहण करने में हमारे चित्तगत दोष बाधक बन सकते हैं इसलिए तर्क बुद्धि से विधियों की परीक्षा का निर्देश भी दिया गया है।

शास्त्र में निषेधों की स्थिति विधि से ऊपर है। निषेधों में सबसे अधिक महत्त्व सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य रूपी पाँच यमों को दिया गया है जिनकी सिद्धि से सभी विधियों की प्राप्ति संभव है। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने आरंभिक राजनीतिक जीवन में सबसे पहले इन पाँच यमों को ही साधने का प्रयत्न किया था और जिस दिन उन्हें लगा कि उन्होंने अपने जीवन में इन पाँच यमों को साध लिया है उसी दिन उन्होंने प्राप्त पहली विधि के रूप में सत्याग्रह का उद्घोष कर दिया था। गांधी जी जीवन भर यह मानते रहे कि शुद्ध चित्त में विधियों का अर्थात् कर्तव्य का भान स्वतः हो जाता है। चित्त जितना शुद्ध होगा, विधि का ज्ञान उतना ही सही होगा।

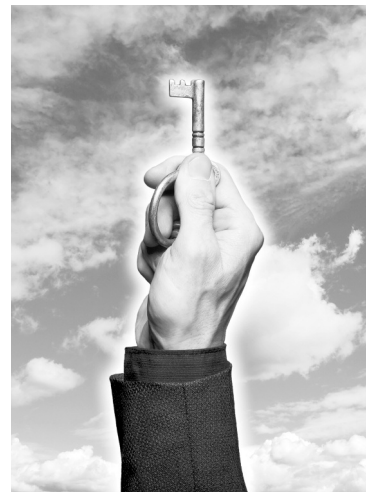

शास्त्र यह भी कहता है कि सारी विधियाँ देशकाल सापेक्ष हैं। हर स्थिति में एक ही कर्तव्य होता है उसका निर्देश हृदय से या अंतर्रात्मा से सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसलिए धर्मशास्त्रों की, रूढ़ियों की, सामाजिक परंपराओं की भूमिका सहायक ही होती है। सामान्यतः हम उन्हीं से निर्देश लेकर अपने कर्मों का निर्धारण कर रहे होते हैं। क्योंकि हर क्षण हम अपनी अंतरात्मा में झाँक कर नहीं देख सकते कि उस परिस्थिति में हमारा कर्तव्य क्या है। इसी से यह आवश्यक माना गया है कि शुद्ध चित्त से संपन्न आचार्य परंपराओं का और शास्त्र का संशोधन-परिवर्द्धन करते रहें। परंपरा वही है जो देशकाल को समाहित करते हुए परिमार्जन-संवर्धन करती रहे। भारत में सदा ही राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सारा का सारा तंत्र इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए खड़ा किया जाता रहा है कि वह यहाँ के लोगों को अपने कर्तव्य पालन में, विधियों को आत्मसात करके उनके अनुरूप आचरण में सहायक हो सके। इस उद्देश्य में अब एक बहुत बड़ी बाधा आ गई है। हम अपना सारा राजनीतिक तंत्र पश्चिम के अनुकरण पर खड़ा कर रहे हैं। उसकी विधायी प्रक्रिया यूरोपीय विचारों से संचालित है। उसका दंड विधान भारत के लोगों की न्याय और कर्तव्य की भावना को क्षीण करता जा रहा है। राज्य के इस भटकाव ने हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन को भी तहस-नहस करना आरंभ कर दिया है।

यूरोपीय संस्थाओं और विचारों के इस अनुकरण का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया जा रहा है कि उससे हमारे भौतिक सुख साधनों का तेजी से विस्तार करने में सहायता मिल रही है। यह भी तर्क दिया गया है कि भारत की अपनी प्रणालियों को बनाए रखकर और भारतीय विचारों और परंपराओं पर टिके रहकर भौतिक सुखों का यह विस्तार संभव नहीं है। यह तर्क देना इसलिए आसान हो गया है कि राजनीतिक पराधीनता के पिछले दौर ने भारतीय समाज में एक तरह की जड़ता पैदा कर दी थी जिसके कारण वह अपने सार्वजनिक जीवन के परिमार्जन और संवर्धन का सदा निभाया जाने वाला दायित्व पूरा नहीं कर सका।

यह तर्क भारतीय सभ्यता की किसी वास्तविक समझ पर आधारित नहीं है। उसका आधार तो पिछली कुछ शताब्दियों में यूरोपीय समाज द्वारा पैदा किया गया सामरिक और औद्योगिक बल है। यह बल उसने अपने भीतर एक तरह की पाशविक शक्ति पैदा करके

प्राप्त किया है। पर इसमें दैव की इच्छा और सहायता भी अवश्य रही है। क्योंकि अपने आप सोलहवीं शताब्दी तक विश्व का सबसे पिछड़ा क्षेत्र रहा होने के बावजूद वह औद्योगिक शक्तियों का अनायास वाहक नहीं हो सकता था। पर यह दैव-बल सदा किसी एक समाज या क्षेत्र के पीछे नहीं रहता। इस बात के संकेत दिखने लगे हैं कि यूरोपीय समाजों की ऊर्जा चुक रही है और उसकी अपेक्षा दूसरे कई समाजों की गतिशीलता बढ़ने लगी है।

हो सकता है भौतिक जीवन का विस्तार दैव की इच्छा के अनुरूप हो। इस विस्तार के लिए शायद उसी तरह की तार्किक बुद्धि और स्थूल वृत्तियों की आवश्यकता थी जैसी यूरोपीय समाज ने अपने भीतर पैदा कीं। भौतिक जीवन के इस विस्तार को आत्मसात करने के लिए भारत समेत विश्व के लगभग सभी समाजों के एक वर्ग का यूरोपीकरण हुआ। यह सब लोग अनुकरणकर्ता ही हैं और अपनी इस दास वृत्ति के कारण वे अपने यहाँ की सभ्यता के वाहक नहीं हो सकते। आज वे अपने राज्य और उसकी संस्थाओं में अग्रणी हैं लेकिन अधिक दिन नहीं रह पाएँगे।

वंशानुगत पहचान के लिए परिवार की निरंतरता आवश्यक है। यूरोपीय समाज ने इस मूलभूत सामाजिक इकाई को भी कमजोर कर दिया है।

भौतिक सुख सुविधाएँ हमारे जीवन का एक किनारा भर हैं। जब हम अपने जीवन में उन्हें साधन की जगह साध्य मान लेते हैं तो अपना पतन ही कर रहे होते हैं। भारतीय समाज ने निश्रेयस और अभ्युदय, न केवल इन दोनों की प्राप्ति को अपना लक्ष्य रखा बल्कि उन्हें अन्योन्याश्रित भी बताया। समाज के स्वास्थ्य और स्थिर बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास पर्याप्त भौतिक साधन हों। इसका परिणाम भी केवल हमारी आवश्यकताओं पर निर्भर नहीं करता दूसरे समाजों को उपलब्ध भौतिक साधनों पर भी निर्भर करता है। इसका ध्यान न रखना अपनी स्वतंत्रता को खतरे में डालना है। इसलिए एक लक्ष्य के रूप में अभ्युदय आवश्यक है। लेकिन अभ्युदय केवल भौतिक साधनों पर निर्भर नहीं होता। इसके लिए सत्य निष्ठा, वीरता जैसे सद्गुणों की और न्यायशील सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं की भी आवश्यकता होती है।

पिछली कुछ शताब्दियों में यूरोपीय समाज द्वारा उपलब्ध भौतिक सुख सुविधाओं को पैदा करना फिर भी आसान काम है। उसके लिए हमें प्रौद्योगिकी और उसके तंत्र को ही सिद्ध करना पड़ता है। इस भौतिक तंत्र के सभी उपादान जड़ हैं, इसलिए उन्हें एक तार्किक ढाँचे में समाहित किया जा सकता हैं। पर एक सभ्यता को पैदा करना अपेक्षया कठिन काम है क्योंकि उसके लिए हमें लोगों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को उस सभ्यता के स्वरूप में ढालना पड़ता है और इसके लिए कहीं अधिक जटिल और विचारशील तंत्र चाहिए।

यूरोपीय समाज सामरिक और औद्योगिक बल पैदा करने की जल्दी में सभ्यता मूलक तंत्र को नष्ट करते रहे। अब हमारी सबसे बड़ी चुनौती अपना सभ्यता मूलक तंत्र खड़ा करना ही है। लेकिन यह अभ्युदय ऐसा होना चाहिए कि वह निश्रेयस की साधना में सहायक हो। केवल वे लोग ही निश्रेयस के

साधक नहीं हैं जो तीव्र जिज्ञासा के साथ आत्म साधना में लगे हैं। वे सभी लोग जो अपने कर्तव्य को पहचानते हैं और इस पर दृढ़ हैं, निश्रेयस के साधक हैं। कर्तव्य ही कर्म है और कर्म ही निश्रेयस अर्थात् परम पुरुषार्थ की ओर ले जाता है। कर्तव्य का ठीक-ठाक भान एक स्वस्थ और स्थिर समाज में ही रह पाता है और इसके लिए समाज के एक लक्ष्य के रूप में अभ्युदय आवश्यक है।

यूरोपीय समाज को अपना सामरिक और औद्योगिक तंत्र खड़ा करने के लिए जिस तार्किक बुद्धि की आवश्यकता थी उसे प्राप्त करने के लिए उसने अपने लोगों के आत्मबोध को क्षीण कर दिया। अब उनका यह आत्मबोध उनके जन्म और मृत्यु के बीच की अवधि में सिमट गया है और उनकी वंशानुगत पहचान तक विस्मृत की जा रही है। वंशानुगत पहचान के लिए परिवार की निरंतरता आवश्यक है। यूरोपीय समाज ने इस मूलभूत सामाजिक इकाई को भी कमजोर कर दिया है। वंशानुगत पहचान विस्मृत हो जाने से उनका कालबोध क्षीण हो गया है। विश्व में दूसरे समाजों का कालबोध अभी बचा हुआ है। भारत के लोग तो केवल अपनी कुल परंपरा के कारण ही अपने कालबोध से नहीं जुड़े हुए हैं बल्कि मंत्रद्रष्टा ऋषियों से अपने अविच्छिन्न संबंध के कारण भी उससे जुड़े हुए हैं। अपने कुल और अपने गोत्र का स्मरण ही उन्हें इस आत्मबोध से संपन्न रखे हुए है जो भारतीय सभ्यता की धुरी है। यह आत्मबोध है अपने कर्तव्यों में अपनी सार्थकता देखना। जब तक आम भारतीयों का कर्तव्य बोध रहेगा भारत कर्मभूमि बना रहेगा। वह कर्तव्य-बोध छूटा तो भारत के भोगभूमि के रूप में पतित होने का दौर शुरू हो जाएगा। ■

(लेखक चिंतक और वरिष्ठ पत्रकार हैं।)

NEW

JANTA BOOK DEPOT
(Regd.)

Book Sellers
Stationers & General
Order Suppliers

Deals in:

LAMY CROSS
SHEAFFER
WATERMAN PARIS
PARKER

Mukesh Gupta

26, BENGALI MARKET, NEW DELHI-110001
23716949, 23353868

E-mail:
newjantabookdepot.bm@gmail.com
sidsun_3@yahoo.com

हिन्दी में ज्ञानपरक लेखन की स्थिति और संभावनाएँ

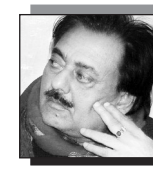

डॉ. प्रमोदकुमार दुबे

ज्ञान और विकास, विकास और शिक्षा, शिक्षा और भाषा का परस्पर सम्बन्ध है। पश्चिम के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और विकास से अँग्रेजी भाषा को शिक्षा में वरीयता मिली। इसी के साथ भारतीय भाषाओं की उपेक्षा होने लगी। यदि भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी को उचित स्थान देना है तो ज्ञान से समृद्ध भाषा बनना होगा। इसकी चिन्ता स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों अधिक थी, बाद के कुछ दशकों में भी इस उद्देश्य से कार्य होते रहे। स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों भारत के पारम्परिक ज्ञान की नवीन प्रस्तुति हो रही थी, क्योंकि अँग्रेज शिक्षा द्वारा आधुनिक ज्ञान का विस्तार करने के साथ-साथ पारम्परिक ज्ञान का तिरस्कार भी किया करते थे, जिसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। लोग देख रहे थे कि भारतीय ज्ञान को विदेशी कच्चे माल की तरह हासिल करते हैं, उसपर शोध करते हैं, उसकी नई पैकिंग करते हैं और उसी ज्ञान की खपत ऐसे अंदाज में करते हैं, मानो उनके पहले दुनिया जाहिल थी, वे नहीं होते तो दुनिया में अन्धकार होता, उनके ज्ञानावंटन के बदले लोग अहसानों तले दबें और उनसे

भारतीय ज्ञान को विदेशी कच्चे माल की तरह हासिल करते हैं, उसपर शोध करते हैं, उसकी नई पैकिंग करते हैं और उसी ज्ञान की खपत ऐसे अंदाज में करते हैं, मानो उनके पहले दुनिया जाहिल थी, वे नहीं होते तो दुनिया में अन्धकार होता।

दबे हुए लोग दूसरों को भी दबावें। शोषण के लिए शासन की दुर्नीति से हमारे समाज में आत्मनिन्दा का रोग फैला। लेकिन विज्ञान प्रसार की ओर से प्रकाशित पुस्तक, 'हिन्दी में विज्ञान लेखन के सौ वर्ष' गवाह हैं कि हिन्दी ने आत्मसंघर्ष किया, विज्ञान के विविध विषयों पर लेखन हुआ, उनमें कई विषय ऐसे हैं जिनकी जड़ें आधुनिक विज्ञान में नहीं, बल्कि हमारे पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान में हैं।

भारत में ज्ञानाचार की गरिमामय परम्परा रही है। यहाँ गहरे ज्ञान को सामान्य जन के लिए सरल भाषा में प्रस्तुत करने की परम्परा रही है, जिससे ज्ञान सर्वसाधारण तक पहुँच सके। कृषकों के लिए कठिन शास्त्रों से मौसम विज्ञान, कृषि विज्ञान, पशु-देखरेख, सामुद्रिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान, नीति निपुणता और व्यवहार कौशल इत्यादि विषयों को जन सामान्य की भाषा में घाघ सरीखे अनुभवी ज्ञानीजनों ने प्रस्तुत किया। उनके दोहे जनजीवन में व्याप्त हैं। इस विषय पर लिखी हुई डॉ. हरिमोहन की पुस्तक से घाघ के ज्ञान-स्रोत का पता चलता है। लोक भाषाओं में व्याप्त बौद्धिक सम्पदा का मूलस्रोत शास्त्र हैं। उदाहरण के लिए लोकश्रुत एक दोहे को देखें, जो वक्तव्य के अनुकूल है–'रागी पागी पारखी नाड़ी वैद्यरु न्याय, इन सब का गुर एक हीयातणा उपाय'। हृदय तल में इन ज्ञानों का मूल है, बुद्धि और तर्क में नहीं।

योगशास्त्र और आयुर्वेद के अनुसार हृदय वक्ष के मध्य में स्थित है, यहीं छठी इन्द्रिय मन रहता है। मन सूक्ष्म ज्ञान का उपकरण है। निर्मल मन से सब कुछ जाना जा सकता है, गुरुनानक कहते हैं कि 'निर्मल मन मिलै रघुराई'। बहत्तर हजार नाड़ियों का केन्द्र हृदय वक्ष के बीचोबीच है। यह बात ग्रे की एनाटॉमी नहीं बतलाती, उसके अनुसार दिल छाती में बायीं ओर धड़कता है। आधुनिक डॉक्टरी भी सब कुछ जानने का दावा नहीं करती है, वह इसी काम के लिए शोध करती है। आधुनिक विज्ञान सच माने या झूठ, आयुर्वेद हृदय को वक्ष के मध्य मान कर ही चिकित्सा करता है। आयुर्वेद से रक्तचाप की दवा सर्पगंधा की जानकारी एलोपैथी ने निःसंकोच ली, इसके लिए कृतज्ञ रहे या न रहे, मज़ाक़ तो न उड़ाए! लेकिन नहीं, उसे औषधियों की नई प्रस्तुति करने मात्र की गर्मी इतनी तेज चढ़ती है कि वह आयुर्वेद-निन्दा का कैप्सूल खाना जरूरी मानती है।

वास्तव में इस गर्मी के रोग की जड़ें डॉक्टरी की शिक्षा में ही नहीं बल्कि अँग्रेजों द्वारा शुरू की गयी यूनिवर्सिटियों की पढ़ाई में भी थी। यह रोग विज्ञान विषयों में विशेषरूप से फैला। आधुनिक शिक्षा के भीतर भाषायी तेवर शायद यह बताता है कि ''एक तुम्हीं धनवान है गोरे! बाकी सब कंगाल''! इसमें झूठी श्रेष्ठता बघारने और दूसरों को हिकारत से देखने का दम्भ घुला हुआ था इसका प्रभाव मिटा नहीं। जड़ विहीन बनानेवाली ऐसी शिक्षा के प्रति हमें महात्मा गांधी ने सावधान किया था। आज हमें जानना

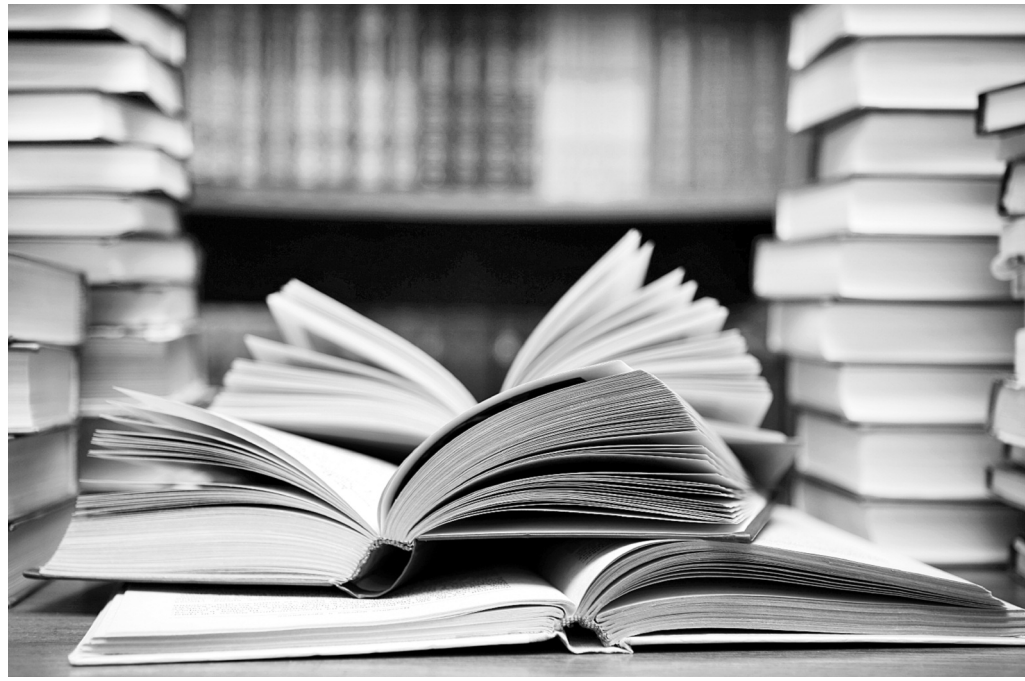

आवश्यक है कि अठारहवीं शताब्दी में पुणे से अँग्रेजों ने शल्य चिकित्सा सीखी थी, उन्होंने उसे विकसित किया। परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि भारतीय विज्ञानी विदेशियों जैसा कार्य कर पाते। अँग्रेजों के जमाने में आयुर्वेद के आत्मसंघर्ष की कहानी दुखद ही है। इस विज्ञान को ध्वस्त करने का कुचक्र रचा गया और ब्रह्मचर्य इत्यादि अनेक स्वास्थ्य सम्बन्धी पारम्परिक नियमों का मज़ाक़ उड़ाया गया।

हिन्दी में इस विषय पर प्रतिरोध का लेखन हुआ है। केशवप्रसाद मिश्र की व्यंग्य रचना में विटामिन की खिचाई दिख जाएगी। इसकी विस्तृत चर्चा में न जाकर 1954 ई. में ताराशंकर वैद्य लिखित पुस्तक 'नाड़ी दर्शन' से कुछ बानगी देखें–''महर्षि मार्कण्डेय प्रणीत नाड़ी-परीक्षा ग्रन्थ जर्मनी के एक पुस्तकागार में आज भी है, चरक संहिता के उपदेष्टा महर्षि आत्रेय की नाड़ी-परीक्षा आज भी रॉयल एशियाटिक सोसायटी कोलकाता के संग्रहालय में सुरक्षित है।'' इस सूचना का अभिप्राय स्पष्ट है कि अँग्रेज पारम्परिक ज्ञान का संग्रह कर रहे थे, उसका अध्ययन करके नई शब्दावलियों में ज्ञान प्रस्तुत कर रहे थे। दूसरी ओर स्थिति क्या थी, यह बयान करनेवाली पंक्तियाँ देखिए–''आजकल नवशिक्षित प्रायः कहते सुने जाते हैं कि नाड़ी पर हाथ रखकर रोग या रोगी की परीक्षा करना केवल ढकोसला है।'' 'इस मार से हमारा जी रो उठा। हमारे अज्ञान ने एक विज्ञान पर अत्याचार कर दिया और तब! वैद्यों, अवैद्यों, छात्रों और अध्यापकों द्वारा आयुर्वेद पर हुए अत्याचार के स्मरण से हृदय चीत्कार कर उठा। ओफ़! इसे अन्धकार में फेंका जा रहा है।' विचित्रता यह है कि एक ओर पश्चिम के अध्येता वैदिक साहित्य और अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों पर विज्ञान सम्बम्धी शोध करते रहे थे–डॉ. रेले का वैदिक स्रोतों पर जीव वैज्ञानिक अध्ययन ''वैदिक गाड्सः एज फिगर्स एज बायलोजी'' नाम से मिलता है, दूसरी ओर वे सुनाते

रहे कि वेद गडरियों का गीत है, जादू-टोना और अन्धविश्वास है।

आधुनिक विज्ञान की नींव में जाएँ तो ज्ञात होगा कि आज ताल ठोकनेवाले विज्ञान का मूल स्रोत भारत का पारम्परिक ज्ञान है। भारत से संग्रहीत की गई प्राचीन पाण्डुलिपियों के अध्ययन से पश्चिम आज भी लाभ उठाता है। लेकिन भारत में पारम्परिक ज्ञान को हिकारत भरी निगाहें इस प्रकार देखती हैं मानो सारे अज्ञान और पिछड़ेपन का कारण कहीं और नहीं, इसी में है। जबकि ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पराधीनता के दिनों कैसे आधुनिक विज्ञान में शोध कार्य करने वाले भारतीय विज्ञानियों के मार्ग में बाधाएँ डाली जाती थीं। उन्हें हतोत्साहित किया जाता था, आज भी उपेक्षा की शिकार प्रतिभाएँ पलायन करने पर मजबूर होती हैं। परिणाम यह है कि पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान धँसता गया और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान बसता गया। गांधीवादी विद्वान धर्मपाल के 'ब्युटीफुल ट्री' की पीड़ा भी यही है।

हमेशा बताया जाता है कि भारत में बहुतेरी भाषाएँ हैं, इन सबको अँग्रेजी एक साथ रखने और अंतर्राष्ट्रीयता प्रदान करने में सहयोगी हो सकती है। अन्यथा इस देश के एक रहने संशय है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी में लगभग तीन दशकों बाद यह कहने की स्थिति अवश्य बनने लगी कि ज्ञान विषयक लेखन हतोत्साहित हुआ। विचारवादी आलोचना हिन्दी साहित्य के लेखन की दिशा तय करने लगी, शिक्षा में हिन्दी माध्यम की स्थिति भी कमजोर होने लगी, अँग्रेजी ज्ञान वाहक माध्यम बन कर उभरती गई, अनुवाद को ही ज्ञान का प्रमुख आश्रय माना जाने लगा और अनुवाद के वर्चस्व से भारतीय ज्ञान परम्परा को उपेक्षित होना पड़ा। इसके पीछे बड़ा कारण विकास के साथ, शिक्षा के साथ भाषा का सम्बन्ध है। इसका निराकरण अनबूझ पहेली नहीं है। विकास के स्वदेशी मॉडल बनाने से शिक्षा में हिन्दी और अन्य देशी भाषाओं का प्रभाव बढ़ सकता है। अभी हाल में 'जुगाड़' शब्द ऑक्सफ़ोर्ड की डिक्शनरी में दर्ज हुआ। यह विवशता इसलिए आई कि पानी खींचनेवाले दमकल के उपयोग से गाँव के मिस्त्रियों ने एक गाड़ी बना दी, उसका नाम पड़ा–'जुगाड़' साधारण ही सही, पर, ज्ञान के बिना यह काम होता कैसे। जब किसी विदेशी का नाम और अँग्रेजी में काम सामने आता है, लोग उसे प्रामाणिक मान सराहना करते नहीं अघाते, किन्तु उससे भी श्रेष्ठ कार्य मात्र हिन्दी में होने के कारण उपेक्षित रह जाता है।

हिन्दी के एक प्रेक्षक ने मुझसे पूछा था–क्या कारण है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर जब कोई विदेशी लिखता है उसे बहुत महत्त्व मिलता है और संस्कृत के विद्वानों से विशुद्ध कार्य करवाने पर भी उसे महत्त्व नहीं मिलता? मुझे उत्तर यह सूझा कि आधुनिक युग पश्चिम की देन है, इसके अर्थतन्त्र का ज्ञान संस्कृतज्ञ को हो ही यह जरूरी नहीं और जब सामयिक सन्दर्भों से कार्य का तालमेल नहीं होगा, उसे व्यापक स्वीकृति नहीं मिलेगी। दूसरा कारण अँग्रेजी का बाजार है जो रणनीति के साथ कदम बढ़ाती है। फौरी तौर पर जबाब देने के बाद मुझे समझ में आया कि यदि पारम्परिक ज्ञान का अद्यतन विकास और उसकी उपयोगिता तय हो जाए तो उसके साथ हिन्दी भी सशक्त होती चली जाएगी। भाषा जब कुछ देने लायक रहेगी तभी उसका आधार सबल होगा। दुर्योग कहें या हीनभावना कि जिन मानविकी विषयों में जमीनी वास्तविकता का विश्लेषण आवश्यक माना

जाता है, वे भी पराश्रित होते चले गए। पराश्रय से मुक्ति आवश्यक है।

अपने देश में ज्ञान आयोग बन चुका है। वह सामाजिक सशक्तीकरण के लिए अँग्रेजी को अनिवार्य बता रहा है। जैसे कि ज्ञान का सारा ख़जाना अँग्रेजी के कब्जे में चला गया हो, मनुष्य-जीवन से संस्कृति का नाता पूरी तरह टूट चुका हो, स्वतन्त्रता व्यर्थ हो गई हो, यन्त्रमानव और मुद्रा-मानव, बस दो प्रजातियाँ ही संसार में सर्वोपरि बन गई हों। ऐसा क्यों मान लिया जाए? जब अँग्रेजी से किया गया बाहरी स्तर का सशक्तीकरण भी 'मैसी बाबू' फिल्म की विडम्बना खड़ा करता है, छब्बीस लेटरस् से किए गए मस्तिष्क की थिंकिंग फैकल्टी का डेवलप्मेंट और पचास से अधिक वर्णों से विकसित किए गए मस्तिष्क के बीच क्या अन्तर हो सकता है इसे मनोवैज्ञानिक मानदण्डों पर क्यों नहीं मापा जाता ? क्या भारतवासी स्वयं ज्ञान परम्परा और भाषा में पिछड़े हुए हैं या उन्हें अवसर नहीं मिलता? सच पूछिए तो चिन्तन और ज्ञान की गहराई में उतरने के लिए जिस प्रकार की विशुद्ध वर्णों वाली भाषा आवश्यक है, वैसी अँग्रेजी नहीं है। उसमे त्वरा है, बाज़ार है, तामझाम है, लेकिन क्या मन्त्र भी है, जो चेतना को जाग्रत कर दे ?

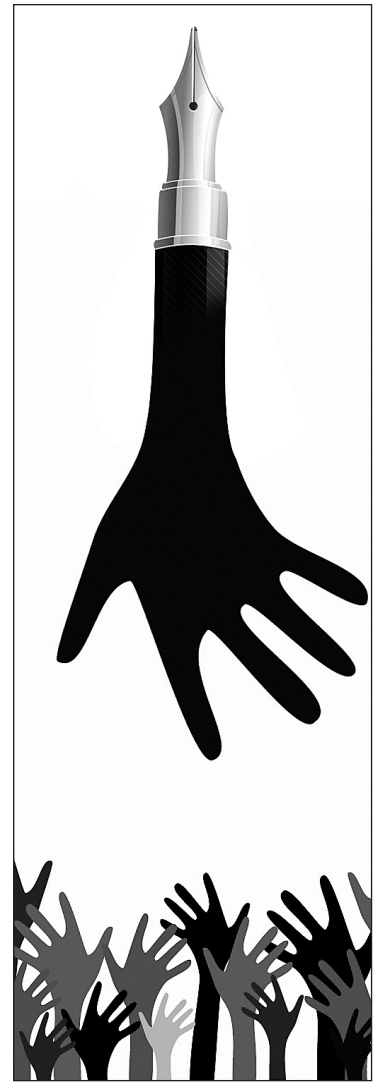

ज्ञान दशा में भी वह फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं के पीछे ही चलती है। एम.एस. यूनिवर्सिटी, बडौदा की एक घटना याद आ रही है, मैं बॉटनी के एक प्रोफ़ेसर के साथ लॉन में घूम रहा था। उन्होंने बताया कि वे विदेशी यूनिवर्सिटियों में औषधीय गुणों वाले पौधों पर व्याख्यान देने जाते हैं। मैंने कहा, ''हम इस समय एक औषधीय गुण वाले पौधे पर टहल रहे हैं। क्या दूब के औषधीय गुणों की जानकारी बॉटनी में है?'' उन्होंने कहा, ''अनेक बहुमूल्य औषधीय पौधे हैं जिनके विषय में आम आदमी को जानकारी है, लेकिन बॉटनी को नहीं।'' मुझे उनकी बातें उस दिन बिलकुल सच लगीं जब नीम, करेला, जामुन इत्यादि यूरोप में पेटेंट होने लगे। घृतकुमारी ऊर्फ़ ग्वारपाठा, एल्वेरा के नाम से करोड़ों की आमदनी का ज़रिया बनी। माना जा सकता है कि ज्ञान अँग्रेजी में अधिक बिकता है, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञान अँग्रेजी का बँधुआ मजदूर है।

भूमण्डलीकरण के बाद पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान के अद्यतन विकास की सम्भावना बढ़ रही है, इसका उपयोग हिन्दी के सामान्य लेखन में और सृजनात्मक लेखन में भी हो सकता है। हमारी बौद्धिक संपदा लोक जीवन में है, यह सम्पदा लोक भाषाओं की प्रतिनिधि भाषा हिन्दी की है। यदि विकास का स्वदेशी

मॉडल बनाया जाए तो हिन्दी अपनी बौद्धिक संपदा का मूल्य पा सकेगी।

ज्ञान आयोग अँग्रेजी भाषा को सूचना और व्यवसाय की दृष्टि से सशक्तीकरण के लिए उपयोगी कह सकता है लेकिन ज्ञान के क्षेत्र में वही भाषा श्रेष्ठ कही जाएगी जो ज्ञान की संगिनी और जननी दोनों हो। अत्यंत समृद्ध प्राचीन स्रोत के कारण भारत से व्याकरण और भाषा विषयक ज्ञान विश्व में आज भी जा रहा है। हिन्दी जिस भाषाबोध और ज्ञान की उत्तराधिकारिणी है, मैं उस भाषाबोध और ज्ञान की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। विलियम फोर्ड, कोलकाता में गिल क्राइस्ट (1751-1842 ई.) आदि अँग्रेजों ने भारतीय भाषाबोध को काटा, इससे हिन्दी और उर्दू ही दो भाषाओं और दो कौम की धारणा लेकर खड़ी नहीं हुई, हमारे देश की अन्य भाषाएँ भी क्षेत्रवाद और अलगाववाद का औजार बनने लगीं। आज भी गिल क्राइस्ट द्वारा खड़े किए हुए भाषाबोध को सबल बना कर रखने का प्रयत्न होता रहता है और हमेशा बताया जाता है कि भारत में बहुतेरी भाषाएँ हैं, इन सबको अँग्रेजी एक साथ रखने और अंतरराष्ट्रीयता प्रदान करने में सहयोगी हो सकती है। अन्यथा इस देश के एक रहने में संशय है। यह धारणा भाषा और नेशन के पश्चिमी फार्मूले से निर्मित और प्रेरित है, इसे भारत पर आरोपित किया गया है। यह भारत के इतिहास की उपज नहीं है, यहाँ का भाषाबोध और राष्ट्र धारणा अलग है। आर्थिक भूमण्डलीकरण और उत्तराधुनिक विमर्शों के साथ जब से बहुसांस्कृतिक तथा बहुभाषिक दृष्टि खुलने लगी है, विश्व की सभी भाषाओं के लिए एक व्याकरणिक व्यवस्था की बात उभरने लगी है, भारत की धारणा में बसने वाले भाषाबोध को ऊपर आने और मुखर होने का सुअवसर मिलने लगा है। इस भाषाबोध के साथ भारत की ज्ञान परंपरा और ज्ञानाचार भी सामने आएँगे।

हिन्दी में ज्ञान विषयों का नया क्षितिज खुल सके इसके लिए हिन्दी की थाती की चर्चा की जा रही है। संतों की इस भाषा के पास लोक वेद है अर्थात् ऋषियों के आप्त ज्ञान की थाती। वह ज्ञान केवल मुक्ति का सन्देश नहीं, जीवन जगत का भी ज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान तो आग है, मर्जी लोगों की–कोई धुनी रमाए या भोजन पकाए या कोई स्वार्थ की रोटी सेंक ले। विषयों में भिन्नता है, लेकिन चेतना एक ही है, जिसमें ज्ञान निहित है– ''चेतनायां निहितं ज्ञानम्'' और यदि चेतना में ही ज्ञान का अधिष्ठान है तो चैतसिक बुनावट पर भारतीय दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। यदि कोई अध्येता नवमार्क्सवादी फेड्रिक जेमेसन तक ठहर जाएगा तो वह सांस्कृतिक उत्पादों में व्यक्त होने वाले 'कॉगनेटिव मेपिंग' में ही उलझा रहेगा। हम शिव-सूत्र वाले हैं, जिसमें एक सूत्र है–'चित्तं मंत्रम्।' चित्त में ज्ञानवती ध्वनियाँ हैं। विषयों के परे भाषा है, भाषा वर्ण, शब्द, वाक्य से बनती है। भाषा के परे वर्णमाला है। वर्णों में क्या-क्या है ? पंचतत्त्व है और सारा पदार्थिक जगत। इस का पूरा ब्योरा सिद्धों के पास है। शिवजी ने ताण्डव नृत्य समाप्त किया, उसके बाद नौ और पाँच बार डमरु बजाया था–''नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारान्''। सब लोग

चिंतन और ज्ञान की गहराई में उतरने के लिए जिस प्रकार की विशुद्ध वर्णों वाली भाषा आवश्यक है, वैसी अँग्रेजी नहीं है। उसमें त्वरा है, बाज़ार है, तामझाम है, लेकिन क्या मन्त्र भी है, जो चेतना को जाग्रत कर दे?

जानते हैं कि इससे चौदह माहेश्वर सूत्र निकले। इसी में चौदह भुवनों की रचना है। ऐसी पण्डिताऊ बातें सुनकर आधुनिक भड़क जाते हैं। पर, जिज्ञासु खोजी बड़े आनन्दित होते हैं। महाकाल के प्रलय नृत्त में, महाविस्फोट के समय क्या था? बस अनाकर ऊर्जा। तब न कोई पद था, न कोई अर्थ। पदार्थिक रचनाएँ बाद में हुईं। पदार्थिक रचना में कोई न कोई क्रम अवश्य है, बिना क्रम के रचना नहीं होती। उसी क्रम को नौ और पाँच संख्या में बताया गया है। इन संख्याओं से ज्यामितिक आकार बन सकता है। इसी आधार पर हमारे बोध में पाँचों तत्त्वों के मूर्त रूप हैं पंचमुख महादेव। इन्हीं पंचतत्त्वों में महाकाल व्यक्त हो रहे हैं। प्रत्येक तत्त्व की घन, तरल और विरल क्रम में तीन-तीन अवस्थाएँ हैं, जैसे अग्नि तत्त्व की तीन अवस्थाएँ हैं–अंगार, शिखा और प्रकाश। पाँचों तत्त्वों की सूक्ष्मतम अवस्था से पाँच तन्मात्राएँ बनती हैं– गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। इन्हीं से पंचज्ञानेन्द्रियाँ बनती हैं। आधुनिक यह मानते हैं कि पदार्थ में चेतना होती है, आत्मा नहीं होती। लेकिन पंचतत्त्व विज्ञान मानता है कि प्रत्येक पदार्थ की सूक्ष्मतम अवस्था में चेतना निहित है। इसके अनुसार पाँचों तत्त्वों की तीन-तीन अवस्थाएँ जहाँ समाप्त होती हैं वहाँ की सोलहवीं परमावस्था आत्मा है। इस प्रकार पाँच के तीन गुना पन्द्रह पदार्थिक अवस्थाओं में देश-काल का विस्तार हुआ है। सोलह स्वर वर्णों में 'अ' को सभी वर्णों में व्याप्त प्रकाश होने के कारण शैवागम परम शिव मानता है–*अकारः सर्ववर्णाग्रः प्रकाशः परमः शिवः।* ऐतरेय में भी 'अकारो वै सर्ववाक्' कथन है। अकार को भाषा क्षेत्र का सेक्युलर भगवान कहने में कोई समस्या नहीं है। यह बाहरी उपकरणों से भी सिद्ध हो जाता है। कोलाहल टेप करें और उसकी फ्रीक्वेंसी कम करते जाएँ उसमें अकार निकलेगा। यदि फ्रीक्वेंसी तीव्र कर दी जाए तो ईकार स्वर निकलेगा, इनके बीच स्वरित उकार होता है। यहीं 'अइउण्' पहला माहेश्वर सूत्र है। शास्त्रीय संगीत का आलाप चूँकि नादोन्मुख होता है उसमे बोल विलीन हो जाते हैं। सभी वर्णों में सोलहवें अकार की यही महिमा है। छान्दोग्य के अध्याय-6, खण्ड-7 में षोड्श कलायुक्त पुरुष के बारे में बताया गया है। श्वेतकेतु पन्द्रह दिन अन्न खाना छोड़ जल पीकर रहता है। उसके पिता और गुरु आरुणि कहते है, ''ऋक्, यजु, और साम का वाचन करो''। श्वेतकेतु असमर्थता व्यक्त करता है। आरुणि बताते हैं कि तेरे तीनों वेद सोलहवीं कलारूप पुरुष में विलीन हो गए हैं। अन्न खाओगे तो पुनः लौट आएँगे। अत्यन्त सहज विधि से गूढ़तम ज्ञान का उपदेश देखकर आश्चर्य होता है। पाँच के तीन में ही सारा जगत है। वेद त्रयी पन्द्रह दिन के निरान्न उपवास से प्राणों में प्रविष्ट हो सुप्त हो गई। श्वेतकेतु को उसके पिता ने प्राण रक्षा के लिए केवल जल पीने को कहा था, यह बताकर कि जल प्राण है, जल लेते रहोगे तो प्राण बचे रहेंगे। पंचतत्त्व के त्रिक अर्थात् पन्द्रह के बाद सोलहवीं कालरूप पुरुष अमृत है। इसके आगे के रहस्य को अनाख्य कहा गया है। उसे कौन जान सकता है ! सभी वर्णों में व्याप्त 'अ' अमृतकला है, इसी को सृष्टि का पहला वचन–'ब्रह्मायवाचः' कहा गया है। 'अ' केन्द्रित 'आ' से 'अः' तक के पन्द्रह स्वर वर्ण भाषाजन्य मनोजगत की पीठिका है। यही पन्द्रह स्वर चन्द्रामास के एक पक्ष की पन्द्रह तिथियाँ हैं आकाश में जो चन्द्रमा है वही देह में मन है। पंचतत्त्वों के त्रिक में मूर्त हुए देश-काल से नौ शक्तियों का त्रिकत्र्य वितान-तीन गुणे तीन गुणे तीन- कुल सत्ताइस नक्षत्रों का चँदोवा नभ मण्डल में तना हुआ है। महाविस्फोट के बाद सुस्थिर हुए ब्रह्माण्ड के सत्ताइस नक्षत्रों के चार-चार चरणों में

कुल एक सौ आठ रश्मियाँ और ध्वनियाँ हैं। देश-काल से रचे-बने ब्रह्माण्ड में भी एक सौ आठ की गणना निहित है। मास के एक पक्ष में तीन सौ साठ घण्टे होते हैं दो पक्षों के तीस दिनों में सात सौ बीस घण्टे और चान्द्रवर्ष में तीन सौ साठ दिन, इनका कुल योग दस सौ अस्सी के दशांश एक सौ आठ होता है। इन कालांश की ज्योतियों को वेद के ऋषि ने सम्बोधित किया है–''आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानी विंशतिश्च तस्थुः।'' हे अग्ने ! सात सौ बीस जोड़े पुत्र हमेशा रहते हैं (ऋ. 1.164.11)। इन्हीं अग्नियुग्मों से पदार्थ जगत बना है। एक सौ आठ के आधा चौवन वर्णों से भाषा का आधार बना है, इसे वर्णमाला कहा गया। वर्ण में रश्मि और ध्वनि दोनों हैं। यह रंग और ध्वनि दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त मानुषी उच्चारण का आधार लेकर वर्णों की संख्याएँ ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत क्रम से 63 या 64 मानी गई हैं। इसका प्रयोजन व्यावहारिक है। उपर्युक्त चर्चा में नौ और पाँच बार बजे शिव के डमरू-नाद का आधार लिया गया है, जिसमें पृथ्वी के कक्ष के अनुस्वार, विसर्ग और अर्धमात्रा मिलाकर छत्तीस व्यंजन और ''स्वरर्देवाः सूर्य्यः'' (शत. ब्रा. 1.1.2.2.1) के अक्ष के बहत्तर स्वर कुल एक सौ आठ रश्मियों और ध्वनियों को समाहित किया गया है। ये सभी सृष्टि में मूलरूप से व्याप्त हैं, परन्तु सभी मानुषी उच्चारण की भाषा में नहीं आतीं। इसका प्रयोजन ठोस, द्रव और वायव्य अवस्थाओं में व्यक्त सम्पूर्ण पदार्थिक जगत का आधार ज्ञात करने से है। इन रश्मियों और ध्वनियों की रेखीय गति गणों में होती हैं। ये संख्या क्रम में हैं और रेखीय भी। इन्हीं के अनुकरण में वेदी बनती है।

भारत में ज्ञानाचार की गरिमामय परम्परा रही है। यहाँ गहरे ज्ञान को सामान्य जन के लिए सरल भाषा में प्रस्तुत करने की परम्परा रही है, जिससे ज्ञान सर्वसाधारण तक पहुँच सके।

मालूम नहीं, मेण्डलिफ ने एक सौ आठ पदार्थों की आवर्त्त तालिका बनाते हुए कहाँ से आधार लिया था, इस विषय की स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। यदि उसकी ज्ञान परम्परा में एक सौ आठ की कोई धारणा प्राचीन समय से होती तो सम्भव था कि उसके यहाँ की भाषा की वर्णमाला में, ज्योतिष में, जप की माला में, अध्यात्मोपासना में और सन्तों-महात्माओं के 'श्री' विभूषण में, कहीं-न-कहीं एक सौ आठ संख्या सुशोभित होती दिखाई देती। लेकिन यह उसकी संस्कृति का अंग नहीं है। अठारहवीं सदी के दौरान भारत की अन्य सम्पदाओं के साथ-साथ ज्ञान सम्पदा से भी जब पश्चिम का परिचय बढ़ा और बहुत गाढ़ा हुआ, भारत के वैज्ञानिक तथ्यों के भी पंख निकल आए। अनेक विश्वविद्यालयों के देश भारत में निर्धनता के अंधकार के साथ अज्ञान का अंधकार भी छा गया। हम क्या थे, क्या हो गए? का सवाल राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने यूँ ही नहीं उठाया था। खेद तो यह है कि उनके बाद यह सवाल हिन्दी में हाशिये पर डाल दिया गया और मान लिया गया कि हमें अतीत को याद कर झूठा गर्व करना ठीक नहीं है। पर, जब भी बौद्धिक इतिहास की बात उठेगी, अस्तित्व में रहने के लिए हमें अपने बारे में जानना होगा। यदि अस्तित्व रखना ठीक नहीं होता, जैसा कि उदारवादी बताते हैं तब भी प्राकृतिक आपदाओं को देखते हुए हमें जीव-जगत की रक्षा के लिए अवश्य अस्तित्व में रहना होगा। आधुनिक विज्ञान को भी जानना जरूरी है कि पंचधा प्रकृति और

इसकी त्रिगुणात्मक शक्तियों में भेद पैदा करना और इन दोनों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना घातक है। एक सौ आठ की पदार्थ-तालिका पर खड़ा होकर जिस आधुनिक विज्ञान ने कदम आगे बढ़ाया, वह पंचतत्त्वों से निर्मित मूल प्रकृति की संरचना को उसी की एक सौ आठ पदार्थिक शक्तियों से विखण्डित क्यों करने लगा? यह कैसी वैज्ञानिक समझ थी? भारत की मेधा ने पंचतत्त्वों को शिव स्वरूप और नवों शक्तियों को शक्तिरूप मान कर उपासा। शिव और शक्ति में ही परस्पर विरोध पैदा करने से विकास नहीं, सर्वनाश होता है। नए विकास में जितना जलवा नहीं, उससे अधिक मलवा है। आपदाएँ घट रही हैं, कहे कौन कि यदि भारत की मेधा अस्तित्वहीन हो गई तो आधुनिक विज्ञान को उसकी बुनियादी गड़बड़ी दूसरा कोई नहीं बता पाएगा।

आधुनिक शिक्षा ने दुर्योग से हमें पढ़ा रखा है कि पुराने पंचतत्त्व की धारणा बहुत पीछे चली गई, नये तत्त्वों की संख्या एक सौ आठ है। एलिमेंट का अनुवादिक अर्थ तत्त्व है। 'त' से बने इस शब्द के मूलार्थ से हमें भी मतलब नहीं था, लेकिन तत्त्व और एलिमेंट में मूलभूत अन्तर है, एलिमेंट अनात्मिक है और तत्त्व आत्मिक। तत्त्व है–जिस ''एक नूर से सब जग उपजा,'' ''एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन''–यह बात तो वही कहेगा जो तत्त्व का मूलार्थ जानता होगा कि तत्त्व शब्द ''तनु विस्तारे'' धातु से बना है, जिसका अर्थ है विस्तार। यह विस्तृत संसार जिससे ढका हुआ है, उसके यथार्थ रूप को तत्त्व कहते हैं। शब्दस्तोत्रमहानिधि में तत्त्व शब्द के दो अभिप्राय हैं–ब्रह्म और सांख्योक्त पच्चीस तत्त्व। पदार्थ जगत इन्हीं दोनों से आच्छादित है–'तनोति सर्वान् व्याप्य आस्ते इति तत्त्वम्' (पदार्थ विज्ञान, पृ. 269)। एलिमेंट का बोध जब पैदा ही नहीं हुआ था, तब से 'तत्त्व' परिभाषित दशा में है। मगर इसे पाँच की संख्या तक सीमित एक पुरानी धारणा बताकर एलिमेंट से तुलना किया गया और ख़ारिज भी। जबकि पंचतत्त्व विज्ञान के बिना भाषा क्षेत्र में कोई क्रिया कलाप सम्भव नहीं है। मनुष्य के सृजन, सम्प्रेषण और अधिगम के सारे ऐन्द्रिक कार्य-व्यापार पंचतत्त्व विज्ञान के ही अधीन आते हैं।

निश्चित रूप से हिन्दी को पंचतत्त्व विज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त है, जो प्रकृति का क्रूर शोषक नहीं, संवेदनशील पोषक है। हिन्दी को प्राप्त वर्णमाला के भीतर यही विज्ञान निहित है

चूँकि भाषा पदार्थ और पंचतत्त्व के विज्ञानों के बीच की कड़ी है, हमारे भाषाबोध में वर्णों के उच्चारण भेद से भाषा की विविधता स्वीकृत है और सारी भाषाएँ एकात्म दृष्टि से ही देखी जाती हैं। हमारी वर्णमाला सभी भाषाओं की ध्वनियों को लिपिबद्ध करने की क्षमता रखती है। निश्चित रूप से हिन्दी को पंचतत्त्व विज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त है जो प्रकृति का क्रूर शोषक नहीं, संवेदनशील पोषक है। हिन्दी को प्राप्त वर्णमाला के भीतर यही विज्ञान निहित है, इसे जाननेवाला व्यक्ति आधुनिक विज्ञान का उपयोग करते हुए प्रकृति के प्रति स्वाभाविक रूप से संवेदनशील रहता है क्योंकि प्रकृति हिन्दी साहित्य में पूरी समृद्धि के साथ विराजमान है। हिंदी में ज्ञान विषयक सार्थक सृजन अपनी ज्ञान परंपरा के साथ रहकर अन्य ज्ञान स्रोतों को भी विवेकपूर्वक उपयोग करने से सम्भव होगा, आधुनिक विज्ञान के अंधानुकरण से नहीं। ■

(लेखक एन.सी.ई.आर.टी के भाषा-विभाग में प्राध्यापक हैं)

हरिकृष्ण निगम

भारतीय इतिहास का विद्रूपीकरण

भारतीय इतिहास के विद्रूपीकरण की पिछले कई दशकों से सुनियोजित रूप से एक अलग परंपरा ही बन गई है। वामपंथियों ने अपने राजनीतिक पूर्वाग्रहों व आयातित विचारधाराओं को एक सशक्त हथियार की तरह प्रयुक्त किया है। चाहे प्राचीन इतिवृत्त हों या नए-पुराने घटनाक्रम हों, वही विश्लेषण स्वीकार किया गया है जिस पर साम्यवादी रजामंद थे। उनकी मूलधारणाएँ ही विकृत मंतव्यों से भरी-पूरी रही हैं। जब साम्यवादी दल का हर नेता पार्टी-लाइन के आधार पर, सत्ता के स्रोतों का दोहन कर, देश

के हजारों साल से लेकर आज तक के इतिहास पर केवल कुंठित, अवसरवादी विसंगत तथ्यों का सहारा लेकर हिंदू ताने-बाने पर निर्ल्लज होकर मर्मांतक आघात करे तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू-विरोध ही उनके इतिहास-लेखन की एक बड़ी शर्त है। उनके इतिहास-लेखन में सत्यों के प्रति जिज्ञासा कम, दुराग्रह अधिक और शोध के नाम पर साम्यवाद की अपनी चमत्कृत करने वाली विकृत शब्दावली की धोखाधड़ी अधिक है। एक बड़े अरसे से साम्यवादियों द्वारा बुने भ्रमजाल द्वारा हमारे कथित बौद्धिक वर्ग ने देश की वास्तविक पहचान को जिस तरह नकारकर अनेक मृगमरीचिकाओं को जन्म दिया है, उसका विस्तृत, प्रामाणिक व शोधपरक लेखा-जोखा डॉ. शंकर शरण ने अपने ग्रंथ 'मार्क्सवाद और भारतीय इतिहास लेखन' में प्रस्तुत किया है। साथ ही साथ आज हिंदू-उदय के जड़हीन व हताश विरोधियों को उन्हीं तर्कों, मुहावरों, विशिष्ट शब्दावलियों एवं प्रस्तुत शैली में मुँह-तोड़ जबाव भी दिया है। विशाल फलक वाले इस ग्रंथ के 11 अध्यायों में से लगभग हर एक में मार्क्सवादी मिथ्याकरण की मोर्चेबंदी को उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से ध्वस्त किया है। हमारे हजारों वर्षों के प्राचीन इतिहास से लेकर चाहे मध्यकाल हो या आधुनिक युग मार्क्सवादियों को हिंदू पहचान, सभ्यता व संस्कृति से पुराने बैर को किस अशोभनीय प्रत्युतर शैली में प्रस्तुत किया जाता है और सब कुछ उनकी राजनीतिक दृष्टि किस तरह निर्धारित करती है इसका दुर्लभ दस्तावेजों के साथ इस ग्रंथ में पर्दाफाश किया गया है। सांप्रदायिकता के ये स्वयंभू विशेषज्ञ कभी मास्को की हास्यास्पद गुलामी और कभी चीन अथवा साम्यवाद के दूसरे गढ़ों के पिछलग्गू बनकर अपनी देशविरोधी मानसिकता का प्रदर्शन कई बार कर चुके हैं। उनकी अवधारणा की चकाचौंध में हमारे अनेक बुद्धिजीवी अपने देश की मूल चिंतनधारा से दूर भटक गए प्रतीत होते हैं। स्पष्ट है कि मार्क्सवादी इतिहास लेखन सिद्धांतों पर नहीं, राजनीति के तहत निर्धारित होता है।

राजनीतिक उद्देश्य को मदद देने वाले इतिहास से ही उन्हें सरोकार रहा है। उनकी प्रकाशित सामग्री में वे जो आज कहते हैं कल उसी का उल्टा भी कह सकते हैं। बदलते राजनीतिक यथार्थ से निपटने के लिए झूठ बोलने के साथ साथ वे स्वयं मार्क्स-एंगिल्स व अपने ही पुराने पार्टी अधिवेशनों के प्रस्तावों व निर्णयों को सेंसर करने में भी नहीं हिचकते हैं। मार्क्सवादी भाषायी, चमत्कारपूर्ण तर्कों को गढ़ने में भी कैसे पारंगत होते हैं, यह डॉ. शरण ने अनेक दृष्टांतों व उद्धरणों से सिद्ध किया है। लेखक ने पुस्तक के हर अध्याय के अंत में बहुमूल्य संदर्भ-सामग्री व मूल पाठों से टिप्पणियाँ देकर इस पुस्तक को बेजोड़ बना दिया है। लेखक ने मार्क्सवादी इतिहासकारों के विशेषकर अयोध्या पर वैचारिक हस्तक्षेप

साम्यवादियों ने स्वतंत्रता के बहुत पहले यह कहना शुरू किया था कि भारत एक राष्ट्र कभी नहीं रहा; यह अनेक राष्ट्रीयताओं का जमघट है, समवाय (समन्वय) है।

पहले जिस तरह अपने हर शत्रु को 'प्रतिक्रियावादी' कहते थे, अब वे सांप्रदायिक कहते हैं। सेक्युलरिज्म को उन्होंने मात्र हिंदू विरोध के रूप में पहचाना है।

के पीछे उनके षड्यंत्रकारी दुराग्रह व अज्ञान की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। यह ग्रंथ लेखक के गहन अध्ययन और उनकी अपनी पृष्ठभूमि के कारण अत्यंत विश्वसनीय हैं और पठनीयता के पैमानों पर खरा उतरता है। सन् 1961 में जमालपुर (बिहार) में जन्मे डॉ. शरण ने भागलपुर विश्वविद्यालय से राजनीति विज्ञान में परा-स्नातक की उपाधि ग्रहण की थी। सन् 1986 में उन्होंने मास्को में मार्क्सवाद, लेनिनवाद और सोवियत राजनीतिक प्रणाली का विशेष अध्ययन किया। नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से जुड़े रहकर गहन विचार-विमर्श के बाद प्रस्तुत शोध-ग्रंथ उन्होंने पी-एच.डी. की थीसिस के रूप में लिखा था। कदाचित अरुण शौरी की महत्त्वपूर्ण व चर्चित कृति 'एमिनेंट हिस्टोरियंस' के बाद डॉ. शरण का प्रस्तुत ग्रंथ अपने विषय का सर्वाधिक महत्त्व का खोजपूर्ण लेखन है। डॉ. शरण राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक और नेशनल बुक ट्रस्ट बोर्ड के सदस्य रहे हैं।

इस ग्रंथ में भारतीय मार्क्सवादियों की तुलना धार्मिक अतिरेकियों से की गई है और 'फंडामेंटलिस्ट' की संज्ञा भी दी गई है। आश्चर्य नहीं कि वे अपनी विचारधारा को अकाट्य मानते हुए एक तरह का कठमुल्लापन दिखाते हुए हिंदू सभ्यता व संस्कृति पर चोट करते दीखते हैं। मालूम नहीं एक 'प्रेत छाया' देश के प्रभावशाली बौद्धिक वर्ग का पीछा कर रही है जहाँ इन सब लोगों को 'हिंदू सांप्रदायिकता व पुनरुत्थान' का हौवा दिखाकर उसका उपयोग अपने को सत्ता के नजदीक रखने में करते हैं। साम्यवादियों के विषय में एक बात साफ तौर पर समझ लेनी चाहिए कि वे आधारभूत तौर पर हिंदू विरोधी है। यह विडंबना है कि पूरे विश्व में उनके आदर्श ढाँचे स्वरूप हो गए हैं। पहले जिस तरह अपने हर शत्रु को 'प्रतिक्रियावादी' कहते थे, अब वे सांप्रदायिक कहते हैं। सेक्युलरिज्म को उन्होंने मात्र हिंदू विरोध के रूप में पहचाना है।

सर्वप्रथम वामपंथी इतिहासकारों ने यह धारणा प्रचारित की थी कि हिंदू कालक्रम के बारे में लापरवाह थे और किंवदंतियों व प्रशस्तियों को ऐतिहासिक जामा पहनाने में शुरू से पारंगत थे। रोमिला थापर को जिसे कुछ दिन पहले नोबेल पुरस्कार विजेता वी.एस. नयपॉल ने साक्षात्कार में 'फ्रॉड' तक कह डाला था, सीधे कहती हैं भारतीयों में इतिहास-बोध न था।

एक दूसरे इतिहासकार कहते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले अर्थात् इस्लाम के आगमन के पहले का भारत का इतिहास जिसे देश का हिंदू युग कहा जाता है वह सारा का सारा कालखंड महत्त्वहीन था। वह सभ्यता

प्रतिगामी, समता रहित व दमनात्मक थी। मार्क्सवादियों की व्याख्याएँ आपको चौंका सकती हैं– ''मनु मानवद्रोही और सामंतवादी परंपराओं के पोषक थे;'' ''पौराणिक रचनाएँ काल्पनिक आख्यानों के निरर्थक कला-कर्म का थोक का काम था;'' ''विदुर नीति जातिवादी संस्कृति की अत्यंत प्रतिगामी आचार-संहिता है;'' ''गीता युद्ध और हिंसा को वैचारिक आधार देने वाला ग्रंथ है।'' ''गीता के उपदेश और कुछ नहीं, भू-दासों को अपने स्वामी-सामंतों की सेवा में लगाए रखने और निष्काम कर्म के सिद्धांत के द्वारा उन्हें काम में लगाए रखने की तरकीब थी।'' वामपंथियों का एकमात्र लक्ष्य अतीत के हर घटनाक्रम या सामाजिक पहलू में वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को ढूँढ़ निकालना था। आधुनिक घटनाक्रमों की व्याख्या भी वर्ग-संघर्ष के फॉर्मूलों से की गई।

कहीं इरफान हबीब कहते हैं कि मध्ययुग के संतों ने एकेश्वरवाद इस्लाम से सीखा। कहीं लिखा है कि मुस्लिम आक्रांताओं का उद्देश्य सिर्फ लूट-खसोट था, मतांतरण या मंदिरों का विध्वंस नहीं। मार्क्सवादी इतिहासकारों की हठधर्मिता का आलम यह है कि उन्हें तैमूरलंग या महमूद ग़ज़नवी जैसे विदेशी आक्रांताओं के प्रति भी सहृदयता दिखाने की जिद रही। वे उन्हें सिर्फ दूसरे देशों से लूटपाट की नियत से आने वाले कहते थे। चाहे विपिन चंद्र हों या के.एम. पणिक्कर या रामशरण शर्मा अथवा इरफान हबीब या रोमिला थापर, इन सभी की मानसिकता में हिंदू परंपराओं व इतिहास के प्रति तीव्र घृणा थी। हिंदू काल को नीचा दिखाने के लिए उन्होंने कई झूठों का ताना-बाना बुना तथा भारत में इस्लाम की प्रगतिशील भूमिका पर भी जोर देने की कोशिश की गई। राष्ट्र का मनोबल खंडित करने व समरसता को भंग करने के लिए ऐसे इतिहास-लेखन में हिंदुओं के साथ-साथ जाटों, सिक्खों व जैनियों– सभी को अपने विषवमन का निशाना बनाया। शायद इसीलिए लेखक की मान्यताएँ हैं कि मार्क्सवादी इतिहास-लेखन को ब्रिटिश साम्राज्यवाद, मुस्लिम तत्त्ववाद और अंतरराष्ट्रीय व देशी साम्यवादी आंदोलनों के बदलते परिदृश्य में देखना आवश्यक है। एक तथ्य यह भी है कि हिंदुओं के विपरीत ईसाई व इस्लाम धर्म धर्मांतरण पर बल देते हैं और हिंदुओं की उदारवादी दृष्टि का फायदा उठाकर, सेमिटिक विचारधाराओं से साम्यवादियों का जिन्न निकला जिसने राष्ट्रवादियों को निशाना बनाया। यह टकराव हमारे देश में अरसे से चल रहा है और लेखक ने मार्क्सवादियों के अनेक मुखौटे देखे हैं।

साम्यवादियों ने स्वतंत्रता के बहुत पहले यह कहना शुरू किया था भारत एक राष्ट्र कभी नहीं रहा; यह अनेक राष्ट्रीयताओं का जमघट है, समवाय (समन्वय) है। जिस तरह सन् 1903 में सर जॉन स्ट्रेची ने कहा था कि भारत जैसी न तो कोई चीज है और न ही कभी रही है अथवा यूरोप के मानदंडों के अनुसार भारत न कभी एक देश था और न राष्ट्र। ठीक यही बात साम्यवादियों ने सोवियत संघ की शब्दावली से उठाई। लॉर्ड ब्राइस ने इसी बात को सीधे-सीधे कहा था, ''ब्रिटिश राज को हटा लो और एकता की बात हलके धुंध की तरह उड़ जाएगी।'' शब्दों के हेर-फेर से यही बात विंसेंट स्मिथ, ग्रिकिथ और डॉडवेल ने अपने लेखों में समय-समय पर व्यक्त की। यह सिलसिला बहुत दिनों तक चला। डॉ. शरण के अनुसार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के भारत के इतिहास की यह विडंबना रही है कि जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवादी, मुस्लिम संप्रदायवादी और रूसोन्मुखी मार्क्सवादी अपनी-अपनी रणनीति के तहत एकजुट होकर भारत की सांस्कृतिक एकता पर प्रहार कर रहे थे, देश का भावी मानचित्र और आगामी पटकथा उसी समय लिखी जा चुकी थी। मार्क्सवादियों के इतिहास लेखन की बानगी देखने लायक है, वे कहते हैं–बीसवीं सदी

के आरंभ में सांप्रदायिकता की शुरुआत के लिए तिलक, अरविंद, बंकिमचंद्र, गांधी आदि दोषी हैं। भारत में ब्रिटिश शासन के समय हुए अनेक प्रतिरोध आंदोलन जैसे 'बंग-भंग' के विरुद्ध अथवा आर्य समाज के आंदोलन प्रतिगामी थे। देश के तत्कालीन नेताओं के अवचेतन में हिंदूवादी झुकाव था, जिसने मुसलमानों को मुख्यधारा से अलग कर दिया। यह कहना गलत है कि भारत में मुस्लिम शासन विदेशी शासन था। भारत में मुसलमानों का बड़ा वर्ग यहीं का था जो कट्टर हिंदू समाज की आक्रामकता से धर्मांतरित हुआ था। साफ है कि इतिहास के बारे में मतभेद मुख्यतः इस्लामी मुद्दे से जुड़े थे। एक समय साम्यवादी विदेशी ईसाई मिशनरियों को अमेरिकी साम्राज यवाद के हस्तक, दलाल व जासूस तक कहकर निष्कासित करने की माँग करते थे। एक दौर में उन्होंने जिन्ना के द्विराष्ट्र के सिद्धांत का समर्थन किया।

कम्युनिस्टों की राजनीति का विश्लेषण करते समय यह जानना भी अपेक्षित है कि वे छलावों की दुनिया में रह कर सुविधानुसार रंग बदलने में माहिर होते हैं और लक्ष्य की प्राप्ति में किसी को भी मोहरा बनाने में एक क्षण भी बर्बाद नहीं करते हैं। इस ग्रंथ की भूमिका 'आमुख' शीर्षक से भारतीय पुरातत्त्व परिषद्, नई दिल्ली के अध्यक्ष 75 वर्षीय स्वराज्य प्रकाश गुप्त ने लिखी है जो अपने में एक अत्यंत विद्वतापूर्ण निबंध कहा जा सकता है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि डॉ. शंकर शरण की पुस्तक पढ़ने के बाद, यद्यपि वे उमर में उनसे बहुत छोटे हैं पर फिर भी वे उनके 'फैन' बन गए हैं। आज साम्यवाद के पुराने गढ़ों तक में इस विचारधारा से मोहभंग हो चुका है। स्वयं चीन में माओवाद की अंत्येष्टि हो चुकी हैं। लेनिनग्राड फिर से सेंटपीटर्सबर्ग बन गया है मास्को के गिरजाघर भी खुल गए है। वहाँ इतिहास ग्रंथों में राष्ट्रवाद उभरकर आ गया। लेकिन भारत का मार्क्सवाद आज भी उन्नीसवीं सदी के मार्क्स द्वारा निर्मित चौखटे में ही हमारे देश के इतिहास को देख रहा है। श्री गुप्त जो स्वयं 60 तथा 80 के दशकों में काफी समय मास्को, लेनिनग्राड और दुशांबे के अलावा पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, मंगोलिया और चीन में भी रहे हैं, उन्होंने मार्क्सवाद के यथार्थ रूप को नजदीक से देखा है। वे स्पष्ट कहते हैं–''मार्क्सवादी निहायत हिंदू-द्रोही है, उसकी नीयत में हमेशा खोट रहता है। वह मन और बुद्धि से बेईमान तो है ही, वह आइडियोलॉजी के नाम पर देशद्रोह करने से भी नहीं हिचकता।''

मार्क्सवादियों के इतिहास लेखन की बानगी देखने लायक है, वे कहते हैं–बीसवीं सदी के आरंभ में सांप्रदायिकता की शुरुआत के लिए अरविंद, बंकिमचंद्र, गांधी आदि दोषी हैं।

हम सब जानते हैं कि 1940 के कालखंड में वह गांधी, नेहरू व सुभाष बोस को चुनी हुई गालियाँ दे चुका है। ऐसे दोहरे चेहरों के प्रियपात्र इतिहासकारों के नकाब कई बार उतर चुके हैं। डॉ. शंकर शरण के इस ग्रंथ में शोध भी है, सदाशयता भी है और प्रस्तुति में ईमानदारी भी। रोचकता और अल्पज्ञात तथ्यों को उजागर करने के मानदंड पर कदाचित 'रोमिला थापर और भारत की छवि' वाला अध्याय सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। यदि इस ग्रंथ का अंग्रेजी में अनुवाद उपलब्ध होता तो इसके लिए विशाल अतिरिक्त पाठक समूह स्वयमेव उपलब्ध होता जो हिंदी से परिचित नहीं है। कुल मिलकर यह यह विद्वतापूर्ण ग्रंथ आद्योपांत पढ़ने के बाद कोई भी सुधी पाठक उद्वेलित करने वाले अनुभव से गुजर सकता है। ■

(लेखक इतिहास बोध सम्पन्न वरिष्ठ पत्रकार हैं।)

ऐतिहासिक तथ्यों को बच्चों के लिए दुराग्रहपूर्वक तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत करना, शिक्षा के पुनीत कर्म से खिलवाड़ है। इसी का उद्‌घाटन प्रस्तुत लेख में किया गया है।

शिक्षा का दुरुपयोग

डॉ नीरज अत्री

आज पश्चिम में यदि किसी अपराध को सबसे घृणित माना जाता है तो वो है बच्चों का शारीरिक शोषण, जिसे 'पीडोफिलिया' के नाम से जाना जाता है। यहाँ तक कि जब इस अपराध का दंड भुगतने के लिए अपराधी वहां के कारागार में जाते हैं तो अन्य बंदी भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं और अवसर मिलने पर उन पर हमला भी कर देते हैं। इन अपराधियों से विशेष घृणा के पीछे सोच यह है कि ये अपराधी अपने शारीरिक बल पर बच्चों की निर्बलता का लाभ उठा कर अपराध करते हैं, इसलिए ये सब से निम्न श्रेणी के लोग होते हैं।

इस अपराध की जघन्यता और भी बढ़ जाती है जब बच्चों का उन अपराधियों के साथ निकट का संबंध होता है क्योंकि अब विश्वासघात भी अपराध में सम्मलित

हो जाता है। जब हम अपने बच्चों को विद्यालय में पढ़ने भेजते हैं तो हम इस विश्वास से बच्चों को भेजते हैं कि जिन लोकतांत्रिक संस्थाओं पर इन बच्चों के मानसिक विकास का दायित्व है, वो अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर इन बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य का विनाश नहीं करेंगे।

गत दस वर्षों से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में बैठे विद्वान् हमारे बच्चों से क्या खिलवाड़ कर रहे हैं, उसका एक उदाहरण सातवीं कक्षा की इतिहास की पुस्तक 'हमारा अतीत' के पृष्ठ 65-66 पर देखने को मिलता है। लेख का शीर्षक है– **मंदिरों को क्यों नष्ट किया गया?**

इस लेख में कुल तीन अनुच्छेद (पैराग्राफ) हैं, जहाँ पहले दो अनुच्छेदों में शब्दों का एक ऐसा कुटिल जाल बुना गया है जिसमें सातवीं कक्षा का बच्चा फँसे बिना नहीं रह सकता। पहली दो पंक्तियाँ हैं–

''राजा, मंदिरों का निर्माण अपनी शक्ति, धन संपदा और ईश्वर के प्रति निष्ठा के प्रदर्शन हेतु करते थे। ऐसे में यह बात आश्चर्यजनक नहीं लगती है कि जब उन्होंने एक दूसरे के राज्य पर आक्रमण किया, तो उन्होंने प्रायः ऐसी इमारतों पर निशाना साधा।''

यहाँ पाठकों को दो शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है– 'आश्चर्यजनक' और 'इमारत'। पहले शब्द से बच्चे को मानसिक रूप से तैयार किया जा रहा है कि मंदिरों को नष्ट करने जैसे घृणित कार्य में कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। 'इमारत' के लिए आगे की पंक्तियाँ पढ़िए- ''नवीं शताब्दी के आरंभ में पांडयन राजा श्रीमर श्रीवल्लभ ने श्रीलंका पर आक्रमण कर राजा सेन प्रथम (831-851) को पराजित किया था।'' उसके विषय में बौद्ध भिक्षु व इतिहासकार धम्मकित्ति ने लिखा है कि ''सारी बहुमूल्य चीजें वह ले गया...रत्न, महल में रखी स्वर्ण की बनी बुद्ध की मूर्ति...और विभिन्न मठों में रखी सोने की प्रतिमाओं, इन सभी को उसने जब्त कर लिया''। सिंहली शासक के आत्माभिमान को इससे जो आघात लगा था, उसका बदला लिया जाना स्वाभाविक था। अगले सिंहली शासक सेन द्वितीय ने अपने सेनापति को, पांडयों की राजधानी मदुरई पर आक्रमण करने का आदेश दिया। बौद्ध इतिहासकार ने लिखा है कि इस

यहाँ दो शब्दों पर विशेष ध्यान की आवश्यकता है–आश्चर्यजनक और इमारत। पहले शब्द से बच्चे को मानसिक रूप से तैयार किया जा रहा है कि मंदिरों को नष्ट करने जैसे घृणित कार्य में कुछ आश्चर्यजनक नहीं है।

अभियान में बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति को ढूँढ़ निकालने तथा वापिस लाने हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया।

इसी तरह ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में जब चोल राजा राजेंद्र प्रथम ने अपनी राजधानी में शिव मंदिर का निर्माण करवाया था तो उसने पराजित शासकों से जब्त उत्कृष्ट प्रतिमाओं से इसे भर दिया। एक अधूरी सूचि में निम्न चीजें सम्मलित थीं; चालुक्यों से प्राप्त एक सूर्य पीठिका, एक गणेश मूर्ति तथा दुर्गा की कई मूर्तियाँ, पूर्वी चालुक्यों से प्राप्त एक नंदी मूर्ति, उड़ीसा के कलिंगों से प्राप्त भैरव (शिव का एक रूप) तथा भैरवी की एक प्रतिमा तथा बंगाल के पालों से प्राप्त काली की मूर्ति।

इन दोनों अनुच्छेदों में कहीं किसी इमारत तथा मंदिर को नष्ट करने का उल्लेख नहीं है। दूसरी विशेष बात यह है कि मूर्तियों को ले जाने और उन्हें मंदिर में स्थापित करने का उल्लेख है, अर्थात् न तो कोई मूर्ति और न ही किसी मंदिर को नष्ट किया गया है। अब अगले अनुच्छेद को देखते हैं–

''गजनी का सुल्तान महमूद, राजेंद्र प्रथम का समकालीन था। भारत में अपने अभियानों के दौरान उसने पराजित राजाओं के मंदिरों को अपवित्र किया तथा उनके धन और मूर्तियों को लूट लिया। उस समय सुल्तान महमूद कोई महत्त्वपूर्ण शासक नहीं था, लेकिन मंदिरों को नष्ट करके–खास तौर से सोमनाथ का मंदिर, उसने एक महान इस्लामी योद्धा के रूप में श्रेय प्राप्त करने का प्रयास किया। मध्युगीन राजनीतिक संस्कृति में ज्यादातर शासक अपने राजनीतिक बल और सैनिक सफलता का प्रदर्शन पराजित शासकों के उपासना स्थलों पर आक्रमण कर के और उन्हें

यदि महमूद धन लूटने ही आया था तो सोमनाथ की मूर्ति के टुकड़े हजार किलोमीटर दूर गजनी तक ले जाने का कष्ट क्यों किया था? यदि धन ही उसका उद्देश्य था तो मूर्ति छोड़ कर सोना लेने का अवसर अपने हाथों में से क्यों जाने दिया?

लूट कर करते थे।''

यहाँ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के विद्वानों ने शब्दों का ऐसा जाल बुना है कि सातवीं कक्षा का बच्चा ये समझेगा कि हिंदू और मुसलमान शासकों में कोई अंतर ही नहीं था। इस मनोविज्ञान का सहारा लिया गया है। आरंभ में लिखे गए और अंत में लिखे गए शब्दों पर मानव मस्तिष्क अधिक ध्यान देता है जबकि मध्य में लिखे हुए तथ्यों पर ध्यान कम जाता है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में 'प्राइमेसी इफेक्ट' और 'लेटेंसी इफेक्ट' कहते हैं।

इसी गजनी के संबंध में, इसी कक्षा की इसी पुस्तक के पृष्ठ 21 पर लिखा गया है कि–

''उसका निशाना थे संपन्न मंदिर, जिनमें गुजरात का सोमनाथ मंदिर भी शामिल था।''

तो राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में बैठे विद्वान् अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके बच्चों को ये बताने का प्रयास कर रहे हैं कि महमूद गजनी धन लूटने आया था और इसमें उस के मजहब का कोई लेना देना नहीं था।

वास्तविकता यह है कि हिंदू/सनातन संस्कृति में किसी मंदिर और मूर्ति को नष्ट करना एक नीच कार्य माना जाता है जबकि अधिकतम मुसलमान शासक इसे मजहबी फर्ज समझते थे और इसे एक शानदार कारनामा समझते थे। इसीलिए उस समय के मुसलमान लेखक महमूद जैसे सभी लुटेरों का महिमा गान करते नहीं थकते थे।

आइए देखें महमूद के समकालीन मुसलमान इतिहासकार इसके विषय में क्या कहते हैं–

ऐसा कहा जाता है कि सोमनाथ का मंदिर भारत के एक महान् राजा ने बनवाया था। यहाँ की मूर्ति जो पाँच गज ऊँची है, एक ही पत्थर में से काट कर बनाई गई है। ये दो गज तक भूमि के अंदर है और शेष बाहर है। महमूद ने जैसे इस मूर्ति को देखा तो उसने गुस्से से भर कर अपनी कुल्हाड़ी को उठा लिया और इतना जोरदार वार किया कि उसके टुकड़े हो गए। इन टुकड़ों को लेजा कर गजनी की जामी मस्जिद की दहलीज पर फेंक दिया गया है, जहाँ आज भी पड़ें हैं। यह सच है कि महमूद उस मूर्ति को तोड़ने लगा था तो वहाँ के ब्राह्मणों ने महमूद के आमिरों को दरख्वास्त की थी कि यदि वो मूर्ति को नष्ट नहीं करता है तो वे महमूद के खजाने के लिए करोड़ों सोने के सिक्के देने के लिए रजामंद हैं। आमिरों को यह बात जँच गई। उन्होंने महमूद से कहा कि मूर्ति तोड़ने से कुछ नहीं मिलेगा, लेकिन इस पेशकश से उन्हें खूब पैसा मिल जाएगा जो काफी काम आ सकता है, इसलिए मूर्ति को न तोड़ा जाए। महमूद ने उत्तर दिया, ''यह मैं भी जानता हूँ लेकिन मेरी हसरत है कि जब कयामत के दिन मुझे बुलाया जाए तो यह कह कर बुलाया जाए कि 'वो महमूद बुत शिकन कहाँ है जिसने काफिरों की सबसे महान् मूर्ति तोड़ी थी? न कि वो महमूद बुत फरोश कहाँ है जिसने काफिरों की सबसे महान् मूर्ति काफिरों को सोने के बदले में बेच दी थी?''

ये अंश महमूद के जीवन पर आधारित पुस्तक 'तारीखे अल्फी' में से लिए गए हैं।

यदि महमूद धन लूटने ही आया था तो सोमनाथ की मूर्ति के टुकड़े हजार किलोमीटर दूर गजनी तक ले जाने का कष्ट क्यों किया था? यदि धन ही उसका उद्देश्य था तो मूर्ति छोड़ कर सोना लेने का अवसर अपने हाथों में से क्यों जाने दिया?

महमूद के आक्रमणों का विवरण हमें उसकी जीवनी 'तारीखे यामिनी' में भी मिलता हैं, जिसे अल उत्बी ने लिखा है।

महमूद के दूसरे हमले के संबंध में अल उत्बी लिखता है-

''आमिर (महमूद) ने लम्घान पर चढ़ाई की जोकि

एक संपन्न और सुदृढ़ नगर है। उसने इसे जीत लिया और इसके आसपास रहने वाले काफिरों के घरों को जला दिया। उसने मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ दिया और वहाँ इस्लाम की स्थापना कर दी। उसने अन्य नगरों पर भी आक्रमण कर के उन पर अधिकार कर लिया, वहाँ के नीच मूर्ति पूजा करने वालों का विनाश कर दिया जिससे मुसलमानों को संतोष मिला।''

इन वृत्तांतों को पढ़ कर दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं–एक, महमूद हमारे देश में जिहाद करने आया था और दूसरा, उसका उद्देश्य धन लूटना नहीं था, बल्कि हमारे इस देश की सनातन संस्कृति को नष्ट करना था। स्थान के अभाव के कारण यहाँ महमूद द्वारा ध्वस्त किए गए सभी मंदिरों और मूर्तियों का उल्लेख नहीं किया जा सकता, लेकिन इस क्रूरता का अनुमान, उसी के साथ आए, उसके एक साथी, अल बेरुनी के शब्दों से लगाया जा सकता है। वो अपनी पुस्तक 'किताब-उल-हिंद' में लिखता है–

''कोई भी मुसलमान काबुल की सीमा और सिंधु नदी को पार करके यहाँ नहीं आ सका जब तक कि तुर्कों ने शामानी शासकों के तुर्की शहजादे नासिर-उद-अल्लाह सुबुक्तिगिन ने गजनी पर कब्जा नहीं कर लिया। इस शहजादे ने अपने लिए जिहाद का रास्ता चुना, इसलिए वो अपने आपको गाजी कहता है। अपने वारिसों के सुकून के लिए और हिंदुस्तान की सरहद को कमजोर करने के लिए उसने सड़कें बनाईं। इन्हीं सड़कों पर बाद में चल कर उसके बेटे यामिन-उद-अल्लाह महमूद ने हिंदुस्तान पर अगले तीस सालों तक हमले किए। अल्लाह दोनों बाप-बेटे पर रहम करे! महमूद ने हिंदुस्तान की असाइश और शानोशौकत को मुक्कमल तौर पर नेस्तोनाबूत कर दिया और उसने ऐसे कमाल के कारनामे किए कि वहाँ के हिंदू, रेत के अणुओं की तरह बिखर गए हैं, जैसे लोगों की जबान पर भूले-बिसरे अफसाने होते हैं। यही कारण है कि हिंदू ज्ञान-विज्ञान उन सारी जगहों से गायब हो गया है, जहाँ हमारी हुकूमत है और कश्मीर, बनारस और ऐसी उन जगहों पर पनाह ले रहा है, जहाँ हमारा हाथ नहीं पहुँचा है।

वास्तविकता यह है कि हिंदू/सनातन संस्कृति में किसी मंदिर और मूर्ति को नष्ट करना एक नीच कार्य माना जाता है जबकि अधिकतम मुसलमान शासक इसे मजहबी फर्ज समझते थे और इसे एक शानदार कारनामा समझते थे।

ये हैं गजनी का असली रूप जिसे छिपाने के लिए झूठ और मनोविज्ञान का सहारा लिया जा रहा है। राजा राजेंद्र चोल जैसे कला और धर्म प्रेमी को–जिसने भव्य मंदिरों का निर्माण करवाया था, जिनमें से कई आज भी खड़े हैं और संयुक्त राष्ट्र द्वारा एक विश्व धरोहर के रूप में सुरक्षित हैं–एक दुर्दांत हत्यारे, बलात्कारी और जिहादी के समकक्ष खड़ा किया जा रहा है।

क्या ये अपराध नहीं है? क्या इसमें भी वही सब मानसिक रूप से नहीं किया जा रहा है जो एक 'पीडोफाईल' अपने शिकार बच्चों के साथ शारीरिक रूप में करता है? क्या हमारे बच्चों का और हमारा ये अधिकार नहीं है कि हमें अपने इतिहास की सही जानकारी हो? क्या ये जो अपराध हमारे बच्चों पर किया जा रहा है वो निंदनीय नहीं है? ■

(लेखक भारतीय संस्कृति व इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान हैं।)

एक प्रजाति के स्तर पर मानव और उसके ज्ञान की क्या उपलब्धि होनी चाहिए, जिसमें परंपराबोध और आधुनिकताबोध एक साथ विकसित और प्रतिफलित हो सकें।

पं.घनश्याम ओझा

वैदिक मूल्य परंपरा और संक्रांति

आज विश्व की स्थिति निःसंदेह चिंताजनक है। परिस्थितियों को समझने और सुलझाने के लिए प्रचलित मूल्य, ज्ञान, विचार, शिक्षा और सारे शास्त्र असमर्थ साबित हो रहे हैं। सत्ता और संपत्ति को प्राथमिकता दी जा रही है। शिक्षा और संस्कृति प्रतिष्ठा चिह्न मात्र बनते जा रहे हैं। इस विभ्रम की स्थिति से एक नया वैश्विक सामाजिक विवेक जन्म लेगा, क्या यह कहना एक व्यर्थ का आशावाद होगा।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि अध्ययन, मनन, चिंतन पहले से ज्यादा मात्रा में हो रहे हैं। चिंतन-मनन में सहायता करने वाली आधुनिक तकनीक, ग्रंथों के सृजन और शास्त्रीय अनुसंधान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। परंतु इन कार्य-कलापों से आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता। यह देखना होगा कि इनके द्वारा मानवीय चेतन और संवेदनशीलता में होने वाले परिवर्तनों की दिशा गति, प्रभाव और उन से उत्पन्न विसंगतियों का प्रतिफलन क्या है?

आज कृति और विकृति में अंतर कर पाना कठिन हो गया है। या याज्ञवल्क्य के 'द्वितीया द्वै भय भवति' (दूसरा भय का कारण है) की स्थिति से ज्यादा भयावह स्थिति है। यह गिलबर्ट राइल के 'मशीन में स्थित प्रेत का सिद्धांत' अर्थात् मशीन का प्रेत मशीन को बनाने वाले से भी अधिक बड़ा और खतरनाक है। परिणामस्वरूप यह विचार करना आवश्यक है कि एक प्रजाति के स्तर पर मानव और उसके ज्ञान की क्या उपलब्धि होनी चाहिए, जिसमें परंपराबोध और आधुनिकताबोध एक साथ विकसित और प्रतिफलित हो सकें। प्रथम, मनुष्य का ब्रह्मांड से ऐसा संपर्क संबंध हो कि वह संपूर्ण सृष्टि में अपनी भागीदारी, जिम्मेदारी और हिस्सेदारी का अनुभव कर सके। द्वितीय, यह कि प्रत्येक मनुष्य के पास स्वाभिमान के साथ स्वस्थ जीवन जीने को प्रचुर साधन और सुविधाएँ प्राप्त हों।

वेद का एक मौलिक सूत्र है-'यत्र पिंडे तत्र ब्रह्माण्डे'—जो पिंड में है वही तत्त्व ब्रह्मांड में है और जो ब्रह्मांड में है, वही तत्त्व पिंड में हैं। पिंड का तात्पर्य है मनुष्य या किसी प्राणी का शरीर और ब्रह्मांड का तात्पर्य है खगोल और भूगोल सहित पूरा विश्व तो समस्त पिंडों में मनुष्य नामधारी जो पिंड है उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह ब्रह्मांड के किसी स्तर पर अपना संपर्क संबंध स्थापित कर सकता है उसे जान सकता है क्योंकि तत्त्वतः दोनों एक हैं।

'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन
देवात्मशक्तिं स्वगुणेर्निगूढ़ाम
यः कारणानि निखिलानी तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक'
(श्वेताश्वतर 1/3)

ऋषियों ने अपनी निर्भ्रांत निर्मल दृष्टि से देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व है, वही विश्वकृत है, वही विश्ववित् और वही विश्व है। यह ब्रह्मांड एक सजीव

व्यक्तित्व है और हम इस व्यक्तित्व के हिस्से हैं।

अग्नि और सोम का पारस्परिक हविर्यज्ञ ब्रह्मांड की उत्पति का आधार है जितने भी पिंड बने हैं वे सब अग्नि और सोम से बने हैं। अग्नि और सोम ब्रह्मांड की आत्मा हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में लिखा गया है कि 'अग्निर्वा रुद्र तस्यैते द्वै तन्वौ घोरान्या च शिवान्या चा' अग्नि का नाम रुद्र है उसके दो रूप हैं एक घोर, दूसरा शिव। अग्नि का जो रूप उपद्रावक, रोगप्रद और विनाशक है, उसे घोर रुद्र कहते हैं और जो लाभप्रद, रोगनाशक और रक्षक है, शिव कहते हैं। शतपथ ब्रह्मांण के नवम-कांड के प्रारंभ में ही यह स्पष्ट किया गया है कि अग्नि में जितना सोम संबंध है, वह उतना ही शिव हो जाता है। इनमें अग्नि को शिव और सोम को शक्ति कहते हैं। सोम शब्द उमा से ही बना है 'उमया सहितः सोमः'। अग्नि उर्ध्व शक्तिमय होकर सोमस्य हो जाती है। और सोम

अद्यःशक्तिमय होकर अग्नि बन जाता है। सोम भोज्य है और अग्नि भोक्ता । इसलिए अग्नि को पुरुष और सोम को स्त्री माना गया है। शिव ज्ञान और रस स्वरूप हैं जबकि शक्ति क्रिया और बल स्वरूपा हैं। क्रिया और बल ज्ञान और रस के आधार पर खड़ा रहता है। इसलिए शक्ति को शिव के वक्षस्थल पर खड़ी मानते हैं। विश्वरूप शिव हैं उन पर चित्रकलारूपा (ज्ञानशक्तिरूपा) शक्ति खड़ी है। शिव शक्तिमय हैं। शक्ति शिवमय है। इन दोनों के संपुट में निरंतर यह विश्व बना रहता है। यजुर्वेद संहिता में एक मंत्र आया है।

'नमः सभाम्यः सभापतिभ्यश्च वो
नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च
वो नमो नमः आव्याधिनिभ्यो।
विविद्धयन्तीभ्यश्च वो नमो नमः
उणगणाभ्यस्तृ हतीभ्यश्च वो नमः।'

(16/24)

यह ब्रह्मांड सभामंडप है, जिसका चंदोवा आकाश, बिछावन धरती, नक्षत्र रोशनी हैं। इसमें विराट सभा लगी है। इस विराट सभा के सभापति शिव हैं। वेद सभापति का भाषण है, जिसमें समस्त विद्याओं के बीज हैं। वेदविद्या पक्ष-पात रहित तथा सारे जगत के लिए उपयोगी है। जिसे ऋषियों ने समाधिस्थ चित्त से धारण किया है। सभा के प्रधानमंत्री का पद प्रकृति को प्राप्त है। कोई भी कार्य उसकी आज्ञा के बिना नहीं होता। सूर्य और धूप में जो संबंध है वही संबंध सभापति और प्रधानमंत्री में है। पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) विराट सभा की कार्यकारिणी के सदस्य हैं, प्रकृति के निर्देशानुसार ये पंचमहाभूत विराट सभा का कार्य करते हैं। सभा की नियमावली धर्मशास्त्र हैं। समस्त ऋतु (वसंत, ग्रीष्म पावस, शरद, हेमंत और शिशिर) स्वयंसेवक हैं। समयानुकूल आवश्यक कार्यों को करना तथा खाद्य एवं पेय पदार्थों का आयोजन करना इनके अधीन है। सूर्य स्वयंसेवकों के अधिनायक हैं। वे स्वयंसेवकों के साथ सभा की शांति, सुरक्षा एवं स्वास्थ्य रक्षा का कार्य करते हैं। भंडार एवं खजाना पृथ्वी के अधिकार क्षेत्र में है। सभा की खाद्य एवं द्रव्य संबंधी आवश्यक सामग्री इसी के द्वारा आपूर्त की जाती है। पृथ्वी पर के समस्त जलपात्रों में पानी भरने का काम मेघ करते हैं। अंडज, पिंडज, स्थावर, जंगम ये सारे सभागत विराट सभा के सभासद हैं। इन्हीं के कल्याणार्थ सभा की सारी तैयारी है। सद् विद्वान् लोग सभा के मुख्य सदस्य हैं। ये लोग समय-समय पर सभापति, प्रधानमंत्री के मंतव्य, सभा के उद्देश्य एवं नियम के विषय में लोगों को अवगत कराते हैं। नियम के विरुद्ध कार्य करने वालों को दंड भी मिलता है। सभापति त्रिशूलधारी हैं, आध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक तीन प्रकार के शूल (दुःख) उनके हाथ में हैं। विराट सभा के मुख्य कारण सभापति हैं और इस सभा का मुख्य उद्देश्य भी केवल वही जानते हैं। इसका आभास उनके भाषण में पाया जाता है, यह आभास आध्यात्मविद्या द्वारा कुछ हद तक समझ में आ सकता है। सभा का अधिवेशन ब्राह्मदिवस में होता है और ब्राह्मरात्रि में सभा विसर्जित रहती है।

सभा स्थापन करने की प्रथा सबसे पहले वेद से चली । सभा के सदस्य को सभ्य, कहते हैं, 'सभायां साधूनां सभ्यः' और सभ्य के गुण को सभ्यता कहते हैं। पहले-पहल वेद से ही सभ्यता का प्रसार हुआ है।

अगर परंपरा को समझना है तो हमें उसकी विचार शैली को अपनाना पड़ेगा। परंपरा को समझने की शैली है, उच्च मूल्य के संदर्भ में निम्न मूल्यों को समझना। गीता में एक श्लोक आया है,

उर्ध्वमूलमधः शाखमरवत्यं प्राहुरण्यमम्
छंदाणिं यस्यं पर्णानि यस्य वेद्स वेद्वित। (15/1)

मूल ऊपर है परम चेतना में। शाखाएँ नीचे जड़ता की तरफ हैं। हम चेतना से नीचे उतरते हैं, उच्च मूल्यों से निम्न मूल्यों में। भारत की परंपरा वेदमूलक अवश्य है, परंतु उसमें आगम का, तंत्रपरंपरा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। निगम परंपरा और आगम परंपरा के सम्मिलन से हमारी संपूर्ण परंपरा बनी है। परंपरा में तीन दृष्टियों का होना अनिवार्य शर्त है। प्रथम उसकी जीवन दृष्टि, द्वितीय समाज दृष्टि, तृतीय परंपरा की विश्व दृष्टि। ये तीनों दृष्टियाँ हमारी परंपरा में अंतर्निहित हैं।

हमारे मूल्य हमेशा शाश्वत हैं। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वह पूर्ण है, चैतन्य है। उसी को आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म कहा जाता है। यह सत् चित्-आनंद है। यह प्रत्येक व्यक्ति में सत के रूप में, जीजिविषा के रूप में उपस्थित है, चेतना हर क्षण चित्त में बोध के रूप में प्रस्फुटित होती रहती है, यह आनंद के रूप में भी प्रस्फुटित होती रहती है।

नैतिकता का भी एक विज्ञान है। तथ्यों के अंतरसंबंधों के विधान को नैतिकता कहते हैं और उस विधान के स्वरूप के सिद्धांत से व्यवहार करना विज्ञान है।

मूल्य जीवन की सत्ता है। मूल्य के लिए वेद का निर्वचन है–'एकमेव द्वितीयम्' मूल्य एक है और स्वतंत्र है। जड़ता में विभाजन होता है । नाम, रूप बदलते हैं, आपस में संबद्ध भी होते हैं। लेकिन चेतना दो नहीं हो सकती। चेतना एक ओर स्थिर है। इसीलिए उसे अद्वितीय कहा जाता है। चेतना का एक दूसरा भी पहलू है, वह है उसकी स्वतंत्रता। स्वतंत्रता इस अर्थ में कि कोई भी वस्तु उसके लिए बाधक नहीं हो सकती। बाधा या तो देश की होती है या काल की या वस्तु की–यह अबाध है। प्रत्येक व्यक्ति में अद्वितीयता है, बोलने का अंदाज, लिखने का अंदाज, चलने का अंदाज प्रत्येक में अद्वितीय है। स्वतंत्रता व्यक्ति का अभिव्यक्त मूल्य है। वह बाधाओं को स्वीकार नहीं करता, बाधाएँ चाहे आर्थिक हों या राजनीतिक या सामाजिक, यदि वह अपनी सत्ता और चेतना के व्यक्त होने में इनको अवरोध समझता है, तो उनका विरोध करेगा। मनुष्य में जिस अनुपात में मानवीय चेतना विकसित है, मूल्यों का जितना बड़ा बोध है, उस स्तर पर वह बाधाओं को अतिक्रमित करेगा, तोड़ेगा। उनका समाधान करने की कोशिश करेगा। ताकि उसमें निहित शाश्वत मूल्यों का स्रोत अधिक से अधिक अभिव्यक्त और व्यंजित हो सके।

वैदिक परंपरा की प्रथम मान्यता यह है कि सत्य पूर्ण है, द्वितीय यह समस्त ब्रह्मांड ऋत से अनुशासित है। 'ऋते ज्ञानान न मुक्तिः' जब हम मूल्य की बात करते हैं, तो उसकी पृष्ठभूमि में आस्था यह है कि संपूर्ण विश्व-प्रक्रिया में मूल्य प्रक्रिया अंतर्निहित है। अगर मूल्य विश्व प्रक्रिया में नहीं रहेगा, तो फिर मनुष्य के होने की प्रासंगिकता क्या है? मनुष्य तो विश्व प्रक्रिया का विकसित शिखर अंग है। जहाँ हमारी आस्था यह है कि समस्त विश्व प्रक्रिया आपस में संबद्ध है, देशक्रम, कालक्रम और घटनाक्रम के रूप में। तब एक दूसरी आस्था भी स्वतः उत्पन्न होती है कि यह प्रक्रिया मूल्यगत है, उद्देश्यगत है। कोई लक्ष्य है, जिसे वह प्राप्त करना चाहती है। उस लक्ष्य को पाने की यात्रा में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है, मनुष्य के माध्यम से वह और अधिक ऊँचे उद्देश्य को हासिल करना चाहती है। मनुष्य उसका माध्यम है। यह मूल्य को लेकर एक बुनियादी दृष्टि है।

इस मूल्य परंपरा की मूल व्यवस्था क्या है 'साधन मूल्य क्या हैं'? जिनका परिवेश और पर्यावरण के

साथ पारस्परिकता का संबंध बनता हो। हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ बताएँ गए हैं-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों मूल्य हैं। धर्म प्रथम है और मोक्ष अंतिम। काम और अर्थ मध्य के हैं। अर्थ से तात्पर्य उपयोग और उपभोग की सामग्री। अर्थ के बगैर प्राणी की जीजिविषा की पूर्ति नहीं की जा सकती। विश्व जीवन की जीजिविषा अत्यंत मूल्यवान है, काम प्राणिमात्र की प्रवृति है, इस प्रवृति का एक उत्पाद भी है, वंश की निरंतरता, मनुष्य शरीर में नित्यता नहीं है, पर जाति में एक प्रवाही नित्यता है। इस नैरंतर्य के चलते काम का मूल्य है। चूँकि इसके साथ भोग का आनंद भी जुड़ा है, इसलिए भी काम मूल्यवान है।

लेकिन अर्थ और काम मूल्य व्यवस्था के साधन-मूल्य हैं, साध्य मूल्य नहीं। साध्य मूल्य धर्म है जिसका अभिप्राय संस्कृति में भासमान होता है। धर्म के संबंध में धारणा यह है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः' हम धर्म की रक्षा करें, धर्म हमारी रक्षा करेगा। इसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि हम पर्यावरण के विभिन्न स्तरों को परिशुद्ध बनाएँ रखें, ताकि उनका पारस्परिक सामंजस्य बना रहे। प्रकृति के इस सामंजस्य की संरचना के टूटने पर विषमता उत्पन्न होती है, जिसका सीधा प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। हमारी शास्त्रीय परंपरा इस विषमता जनित दुष्प्रभाव का कारण मनुष्य को ही मानती है। मनुष्य ही अपनी सद् और असद् इच्छाओं, विचारों, कर्मों एवं वाणी-व्यवहार के द्वारा पर्यावरण को दूषित करता है। फिर स्वयं और सामूहिक रूप से उस असंतुलन और विषमता का विषम परिणाम भोगता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को अपने पारिवारिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक तथा राजनीतिक और पंचभौतिक पर्यावरण को दूषित करने और उसका संतुलन बिगाड़ने की कुचेष्टा नहीं करनी

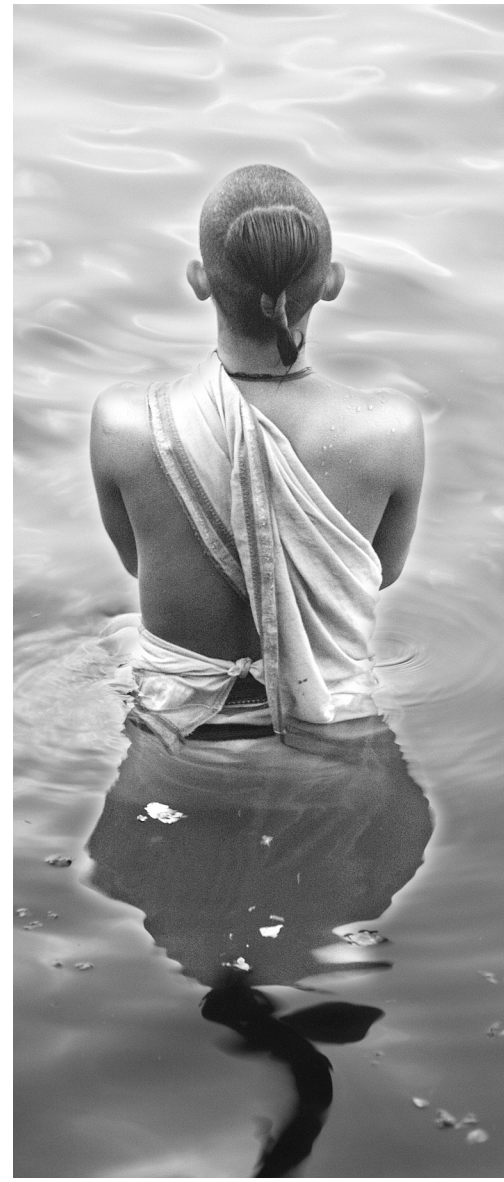

चाहिए। यही धर्म या संस्कृति का वास्तविक निहितार्थ है।

हमारे मीमांसा-शास्त्र के अनुसार मनुष्य के सभी संबंधों के पीछे एक विज्ञान है–कर्म का विज्ञान। उसके अनुसार सब कुछ ऋणानुबंध है। इस ऋण का लेन-देन माता-पिता से शुरू होते हुए ऋषि,

प्रकृति, देव ऋण तक फैलता जाता है। जब तक जीवन है, तब तक लेन-देन है, ऋणानुबंध है। यह लेन-देन रुपयों में नहीं होता। इसकी मुद्रा है–आनंद और दुःख–ये दो पहलू हैं, इस मुद्रा के। ऋणानुबंध नैतिकता का व्यावहारिक पक्ष है। मनुष्य को नैतिक होना चाहि, दिवालिया नहीं।

नैतिकता का भी एक विज्ञान है। तथ्यों के अंतरसंबंधों के विधान को नैतिकता कहते हैं और उस विधान के स्वरूप के सिद्धांत से व्यवहार करना विज्ञान है। और इस नैतिकता के विज्ञान का लक्ष्य है–स्वस्थता-स्व का स्थित होना। एक शरीर की स्वस्थता है, दूसरी अंतःकरण की स्वस्थता। वेदांत की भाषा में स्व का 'आधि' और 'व्याधि' से मुक्त होना स्वस्थता है। व्याधि शरीर में होती है–'आधि'अंतःकरण में। शरीर और अंतःकरण को स्वस्थ बनाने की विधा का नाम नैतिकता है।

वैदिक ऋषियों के चिंतन में आकाश और पृथ्वी की सुव्यवस्था के लिए एक सूत्र आया है–'कस्मे देवाय हविषा विधेम' किस देवता को किस विधि से हवि दी जाए जिससे वे प्रसन्न हों। उपनिषदों में भी यह प्रश्न आता है कि देवता कौन है? तो दो नासिकाओं के पीछे जो घ्राण की शक्ति है–वह देवता है! आँखों के पीछे जो शक्ति है–वह देवता है! कानों के पीछे जो शक्ति है–वह देवता है– मस्तिष्क में जो सोचने विचारने की शक्ति है–वह देवता है। इस तरह के कर्म के यज्ञ से देवता प्रसन्न होंगे और देवता यजमान को प्रसन्न करेंगे।

वैदिक दृष्टि में सृष्टि की उत्पत्ति यज्ञ द्वारा हुई है। जगत के तीन मूल हैं–ज्ञान, क्रिया एवं अर्थ। या यह भी कहा जा सकता है कि इनका समुदाय ही जगत है। इनमें क्रिया को यज्ञ कहते हैं। यज्ञ को विष्णु का रूप कहा जाता है–'यज्ञो वै विष्णुः'। इसलिए यह प्रवाद भी चला आ रहा है कि उपासना का संबंध विष्णु से है, क्योंकि उपासना क्रिया रूप है, और ज्ञान का संबंध शिव से है–'ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत'।

ज्ञान अर्थ का धारक है। ज्ञान बिना अर्थ के नहीं रहता। इस दृष्टि से अर्थ मुख्य है या यज्ञ, यह निश्चित नहीं क्या जा सकता। यज्ञ से अर्थ बनते हैं–और अर्थ होने पर ज्ञान होता है। ज्ञान के बिना यज्ञ नहीं हो सकता और बिना अर्थ के भी यज्ञ नहीं हो सकता। दोनों परस्पर सापेक्ष रहते हैं।

तो यज्ञ से देवताओं और मनुष्यों में पारस्परिक आदान और विसर्ग होता है–हम देवताओं को पुष्ट करें देवता हमें पुष्ट करेंगे। पर्यावरण-दृष्टि से हम वनस्पति को पुष्ट करें, वनस्पति हमें पुष्ट करेगी। यज्ञ प्रक्रिया के पीछे आस्था यह है कि जो मुझ से इतर है–वह साध्य है–मैं साधक हूँ। दूसरों के लिए अपने साधनों, सुविधाओं और समय का बलिदान यज्ञ है। यह पोषण का सिद्धांत है। इससे समाज स्थायी होता है, देश टिकता है, और संस्कृति टिकती है। गीता में यज्ञ प्रक्रिया का एक उदाहरण आया है– सूर्य अपनी किरणों का समुद्र में होम करता है, समुद्र में उस हवन से भाप उठता है और बादल बनते हैं। बादल अपने शरीर का होम करते हैं, वर्षा होती है और वर्षा से अन्न बनता है और अन्न अपने शरीर का होम करता है तो हमारा शरीर बनता है। हमारे शरीर में जो वीर्य बनता है उसका स्त्री के गर्भ में हवन होता है–मनुष्य का जन्म होता है। वेद में इसे 'पंचाग्नि-विधा' कहते हैं। पाँचवीं आहुति में मनुष्य का निर्माण होता है।

वैदिक परंपरा में सामाजिक व्यवस्था या यज्ञ चक्र एक मौलिक मूल्य है। यह परस्पर एक-दूसरे के लिए बलिदान और उत्सर्ग का मार्ग है। यज्ञ स्वेच्छा से स्व की आहुति है इसलिए आहुति मंत्रों में अंतिम शब्द होता है–'न मम स्वाहा'। यह जो पर्यावरण और परिवेश का धुमायित अग्निकुंड है, उसमें मैं और

मेरापन भस्म हो जाए, ताकि दूसरे देवता का पोषण हो। यज्ञ संपूर्ण पर्यावरण की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें संगति है, तारतम्य है। मनुष्य का समग्र परिवेश के साथ एक संतुलन बनता है। यज्ञ-व्यवस्था सबका पोषण करती है। वह वृक्ष में देवत्व देखती है, नदी में देवत्व देखती है।

यह यज्ञ व्यवस्था प्राकृतिक परिवेश में ही नहीं मानव के सामाजिक और आर्थिक परिवेश में भी हजारों-हजार साल से चलती आ रही है। अर्थव्यवस्था की यज्ञपरक प्रवृति को यजमानी प्रथा कहते हैं। यजमानी से तात्पर्य है, जो यज्ञ को माने। यजमानी की परंपरा अभी भी भारत के गाँवों में समाप्त नहीं है। गाँव में अलग-अलग किस्म के धंधे वाले लोग हैं–लुहार लोहे और लकड़ी का काम करता है, कुम्हार घड़ा बनाता है, दरजी कपड़ा बनाने का करता है–विवाह के अवसर पर, श्राद्ध के अवसर पर, पर्व-त्योहारों के अवसर पर यह संबंधों की यज्ञमूलक आर्थिक व्यवस्था पीढ़ी-दर-पीढ़ी हजारों-हजार साल चलती आई है। यजमानी प्रथा में एक स्पष्ट दृष्टि होती है, उत्पादक और उपभोक्ता का सीधा संबंध है, उपभोग और उपयोग की जितनी सामग्री होती है सीधी सेवा में उपलब्ध होती है। लेने और देने वाले के बीच कोई बिचौलिया नहीं होता। बाजारू व्यवस्था को हेय और अधार्मिक समझा जाता है और नई बाजार व्यवस्था के आने से उत्पादक और उपभोक्ता का संबंध टूट रहा है।

बाजारू संबंध मनुष्य और मनुष्य का संबंध नहीं है। यह वस्तु और वस्तु का संबंध है–जिसमें मनुष्य खुद भी खरीद और बिक्री की चीज बन जाता है। दो पक्ष दो व्यक्ति नहीं होते–बाजार में संबंध दो वस्तुओं का होता है। एक वस्तु पैसा है–दूसरी वस्तु जिंस। ये संबंध गुणात्मक नहीं होते–संख्यात्मक और मात्रात्मक होते हैं। पैसे की मात्रा के आधार पर माप-तोल और भाव होता है। इस तरह के संबंध से एक दूसरी तरह का संबंध-प्रारूप बनता है–जिसे प्रतियोगिता कहते हैं। इसमें लेने वाला चाहता है–मैं ज्यादा लूँ और देने वाला चाहता है, मैं कम दूँ। इस तरह की प्रतियोगिता में व्यापार करने वाले के पास मुनाफा नाम की चीज का संचय होता है, और इस संचय से लालच की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसके परिणाम स्वरूप यजमानी व्यवस्था ही नहीं उखड़ रही है, परिवार के परिवार उखड़ रहे हैं। गाँव के गाँव उजड़ने लगे हैं और अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ते हुए बचे-खुचे गाँव बाजारवादी व्यवस्था द्वारा उत्पन्न कचरे से प्रदूषित होते जा रहे हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतवर्ष में प्रवर्तित इस धर्म के प्रचार-प्रसार में कहीं भी भी, आतंक, युद्ध, तलवार, संघर्ष, लोभ-लालच का एक भी प्रमाण नहीं मिलता।

इन तथ्यों के बावजूद परंपरा के पीछे का जो मूल तत्त्व है–उसका समापन असंभव है। उपभोक्ता में देवता बैठे हैं–और देवताओं के पीछे विश्वातीत शक्ति। इसलिए अंतिम उपभोक्ता ईश्वर है। उसकी सेवा मनुष्य या अन्य प्राणियों के माध्यम से ही की जा सकती है। यह जो पत्र, पुष्प, फल और जल है, सबके लिए हो, जिसे प्यास लगी है–उसे पानी दिया जाए। जिसे अन्न की आवश्यकता है–उसे अन्न दिया जाए। वस्तुओं के उत्पादन और उपभोक्ता का सीधा संबंध रखा जाए। क्योंकि मनुष्य के अंदर की चेतना ही हरेक उत्पाद का अंतिम उपभोक्ता है।

आर्थिक व्यवस्था के बाद राजनीतिक व्यवस्था आती है। तब राजनीतिक व्यवस्था का आधार क्या

होना चाहिए गीता में एक श्लोक आता है–

'यत्प्रवृतिर्भूतानाम येन सर्वमिदम ततम्
स्व कर्मणातमभ्यचर्य सिद्धिम विन्दति मानवः।'

जिस परमात्मा से बहुघटनात्मक, बहुवर्चस्वात्मक जगत की और इसमें निवास करने वाले समस्त प्राणियों की प्रवृतियाँ चल रही हैं, उस सत्ता या चेतना की अपने कार्यों द्वारा उपासना ही कर्म है। इससे मनुष्य सिद्धि की प्राप्ति करता है। यह सिद्धि क्या है– जब मनुष्य के अंदर 'सर्वभूतहितैरताः' की चेतना, ज्ञान और प्रेम की संपदा आती है–तब परम मूल्य उसके माध्यम से अभिव्यंजित हो जाता है। उसके पास स्वार्थ नहीं होता, फलाकांक्षा नहीं होती, केवल परार्थ होता है।

आम धरातल पर एक विचारधारा है स्वार्थ की, दूसरी विचारधारा है–परार्थ की। बगैर परार्थ के न तो परिवार टिकता है–न समाज, न राज्य संस्था। हमारी परंपरा इस बात पर जोर देती है कि ध्येय क्या है? और ध्येय के बिना कोई बड़ा परिवर्तन, कोई बड़ी क्रांति सफल नहीं हो सकती। ध्येय अगर स्वार्थ है तो राज्य व्यवस्था चाहे जिस प्रकार की हो, जहरीली बन जाती है। सत्ता व्यक्ति के हाथों में केंद्रित हो जाती है और वह ज्यादा-से-ज्यादा अत्याचारी हो जाता है।

आर्थिक व्यवस्था भी ज्यादा केंद्रित हो जाती है तो वह समाज के शोषण और पतन का कारण बनती है। आदमी का श्रम क्रय करके उससे लाभ लेना शोषण की बुनियाद है। श्रम किसी भी तरह से खरीद की सामग्री नहीं होनी चाहिए। क्योंकि वैदिक सिद्धांत कहता है कि यज्ञकर्त्ता को उस यज्ञ का फलभोक्ता भी होना चाहिए और व्यक्ति की अर्थव्यवस्था वहीं होनी चाहिए–जहाँ व्यक्ति का निवास हो। आज आधुनिक 'औद्योगिक-मनोविज्ञान' में भी यह सवाल उठाया गया है कि 'व्यक्ति काम के अनुरूप हो, या काम व्यक्ति के अनुरूप'। एरिक फ्रॉम के अनुसार 'पूँजीवाद वह साँचा है, जो आदमी के चरित्र को अपनी आवश्यकता के अनुसार ढालता है।' मार्कूजे इसे 'गुलामी का सबसे शुद्ध रूप' बतलाता है।

समाज निर्माण मूल्य परंपरा का व्यावहारिक पक्ष है। इसमें एक है– आर्थिक पक्ष, दूसरा है राजनीतिक पक्ष।

राजनीति में आदर्श व्यवस्था वही है, जो कम-से-कम शासन करे। सत्ता यदि अपने हाथों में अधिक से अधिक विषयों का विधि और निषेध लेती है तो व्यक्ति की गरिमा और आजादी खत्म हो जाती है। व्यक्ति और समाज की राज्य पर निर्भरता बढ़ जाती है। व्यक्ति की रचनात्मकता और उसकी क्षमताएँ समाप्त हो जाती हैं। राज्य का काम है कि समाज और व्यक्ति बहुत सारे मामलों में स्वतंत्र और आत्म-निर्भर हो। राज्य का काम यह देखना है कि इस स्वतंत्रता का ठीक से उपयोग हो रहा है–या नहीं। आदर्श शासन व्यवस्था वही है, जिसमें कम-से-कम कानून हों और उनका पालन ठीक से क्या जाता हो।

लेकिन जब इसके विपरीत राज्य-व्यवस्था समाज के बुनियादी पुरुषार्थों की पूर्ति नहीं करती है, तो वहाँ मनुष्य की भय से मुक्ति, क्षुधा से मुक्ति, अभिव्यक्ति की आजादी और उपासना की आजादी खतरे में पड़ जाती है। समाज का वर्ग सामंजस्य भंग हो जाता है, वर्ग विषमता उत्पन्न हो जाती है और राज्य मर्यादा शोषकों और दमन करने वालों के हित में पड़ जाती है। जिसका परिणाम होता है, दमन, शोषण और अपमान और तब शासन व्यवस्था को चुनौती देना अनिवार्य हो जाता है।

राजनीति में आदर्श व्यवस्था वहीं है, जो कम-से-कम शासन करे। सत्ता अपने हाथों में अधिक-से-अधिक विषयों का विधि और निषेध लेती है तो व्यक्ति की गरिमा और आजादी खत्म हो जाती है।

एशियाई अफ्रीकी देशों के स्वाधीन होने के बहुत पहले गांधी का दावा था कि आधुनिक-विज्ञान इन देशों को समृद्ध नहीं बना सकता, सारी दुनिया को यूरोपीय समृद्धि के स्तर तक ले जाने का तात्पर्य है– उपनिवेशवाद को पृथ्वी से हटा कर ब्रह्मांड के कुछ अन्य ग्रहों को पृथ्वी का उपनिवेश बनाना। इसके बगैर संसार से उपनिवेशवाद कभी नहीं हटेगा। और यदि उपनिवेशवाद हटता है तो यूरोप और अमेरिका समृद्ध नहीं रहेंगे। जिस तकनीकी को हम आधुनिक विज्ञान कहते हैं, उसका विकास साम्राज्यवादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। किसी एक खास उद्देश्य को पूरा करने के लिए बनी हुई तकनीकी उसके विपरीत उद्देश्य के लिए भी उपयोगी होगी, यह धारणा शोध का संदिग्ध विषय है। एक साधारण-सा मनुष्य चालित रिक्शा भी एक तकनीकी है। इसका एक सिरा बैठने वालों के लिए और दूसरा सिरा खींचने वालों के लिए है। इसको एक सार्वजनिक वाहन के रूप में अपनाने पर किसी नगर या कस्बे को मालिक और नौकरों के वर्ग में बाँटना होगा। आधुनिक तकनीकी यंत्रों का अधिकतम चरित्र यही है। धनी औद्योगिक देश बाजार खोज रहे हैं, जहाँ प्राकृतिक संसाधन, मानवीय संसाधन और कीमती उपभोग की सामग्री खरीदने में सक्षम एक मध्यम वर्ग उपलब्ध हो। रिक्शे के चरित्र की तरह उसका एक सिरा उनका अपना देश होगा, जहाँ से तकनीकी का नियंत्रणकारी, प्रबंधनकारी यंत्रों से संचालन होगा तथा दूसरा सिरा होगा भारत और तीसरी दुनिया के देश, विकासशील देश जहाँ उनको बाजार मिलेगा एवं उनके विकास में भागीदारी के नाम पर आधे-अधूरे ढंग से घटिया स्तर की तकनीकी का व्यवहार फैलाया जाएगा, इस तरह का समन्वय करने वाले यंत्र संपूँज को आधुनिक औद्योगिक तकनीकी कहते हैं।

आधुनिक तकनीकी के निर्माण और उपयोग के साथ सत्ता और पैसा इतने अधिक रूप से जुड़े हैं कि योग्य और शिक्षित व्यक्ति की आकांक्षाओं के पीछे प्रेरक तत्त्व बनकर कार्य करने लगते हैं। सरकारें और कंपनियाँ अरबों डालर लगा कर श्रेष्ठ वैज्ञानिकों

को पैसे और प्रतिष्ठा के जरिये प्रलोभित कर दिन ब दिन यंत्रों को अधिक क्षमताओं से तैयार करा रही हैं। प्रोफेसर राकेश सिन्हा का मानना है कि 'कृषि की पारंपरिक पद्धति को छोड़कर और कोई वैज्ञानिक पद्धति अभी तक नहीं हुई है जिसके द्वारा नए संसाधनों को पैदा किया जा सके। आधुनिक विज्ञान का चमत्कार है एक तरफ तो एकत्रीकरण का चमत्कार है और दूसरी तरफ है–ध्वंस का चमत्कार। समय और दूरी पर विजय के नाम पर जो तकनीकी इस वक्त प्रचलित है, इसका मुख्य अंश इन्हीं दो–चमत्कारों को फलीभूत करने के काम आता है।

मनुष्य ब्रह्मांड की प्रजा है, अधिपति नहीं। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की गलती यह है कि वह मनुष्य को अधिपति बनाने की कुचेष्टा में लगी हुई है। इससे एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होता है, जो प्रकृति और ब्रह्मांड को पददलित करना चाहता है और अंततोगत्वा वह मनुष्य को भी पददलित करना चाहता है। मनुष्य जीवन की पवित्रता की अवधारणा उस वर्ग में नहीं रह गई है। रेनेसाँ के काल में मनुष्य की गरिमा की बात उठी थी, दिशाबोध सही था। लेकिन साम्राज्यवाद और आधुनिक विज्ञान के दुर्भाग्यपूर्ण संयोग के पश्चात् मनुष्य मात्र को पवित्र मानने की परंपरा खत्म हो गई। योग्यतम को विशेषाधिकार देने की नीति अपनाई गई। प्रतियोगिता को कसौटी माना गया। यह मानवीय कसौटी से बिलकुल भिन्न बात है। इसके चलते पश्चिमी सभ्यता में दो विकृतियाँ पनपीं व्यक्तिवाद का दर्शन और प्रकृति पर विजय पाने की लालसा।

भारतीय शास्त्रीय परंपरा में प्रकृति का अर्थ व्यापक है। संसार में कुछ भी प्रकृति से अलग नहीं है। प्रत्येक मनुष्य पर्यावरण में पैदा होता है, पर्यावरण में जीता है और पर्यावरण में ही विलीन हो जाता है। आदमी परिवार में जन्म लेता है, परिवार में जीता है और परिवार में ही विलीन हो जाता है। प्रत्येक परिवार के आसपास एक सामाजिक पर्यावरण है और यह पर्यावरण बहुआयामी है। पहला आयाम आर्थिक है, दूसरा राजनीतिक, तो तीसरा सांस्कृतिक। इस बहुकेंद्रित पर्यावरण के आसपास एक और सजीव पर्यावरण है, जिसे पशु, पक्षी और अन्य जीवधारियों का पर्यावरण कहते हैं। इनमें भी चतुर्दिक इन सब स्तरों में ओतप्रोत भौतिक तत्त्वों का पर्यावरण है जिसे भौमिक, जलीय, वायवीय, आग्नेय और आकाशीय या विद्युत्-चुंबकीय पर्यावरण कहते हैं। ये प्रकृति के स्थूल और प्रत्यक्ष आवरण हैं, जिनका हमें अपनी इंद्रियों के द्वारा ज्ञान और भान होता है। हमारी परंपरा पर्यावरण मीमांसा की इतिश्री इतने पर ही नहीं मानती। उसके अनुसार इन दृष्ट प्रत्यक्ष स्तरों के अतिरिक्त पर्यावरण के कुछ अदृष्ट और अप्रत्यक्ष को प्रभावित होता है। पर्यावरण के उन स्तरों को हम जैविक प्राणावरण एवं मनोमंडल या चित्ताकाश कहते हैं। भारतीय दर्शन की यह मान्यता है कि यह तथ्यों और घटनाओं का जगत आकाश से पैदा होता है, आकाश में रहता है और आकाश में लीन हो जाता है। इस आकाश को भूताकाश कहा गया है। भूताकाश के अंदर एक चित्ताकाश ओतप्रोत है और चित्ताकाश का नाम ही प्रकृति है। भूताकाश में स्पंदन होते रहते हैं और चित्ताकाश में स्फुरण। चित्ताकाश में भूताकाश के ओतप्रोत होने का निहितार्थ है–स्थूल के अंदर सूक्ष्म की अवस्थिति। ये दोनों आकाश स्वतंत्र नहीं हैं, इनका एक तीसरा आधार है–जिसे हम चिदाकाश कहते हैं, चिदाकाश मूल्यों का भंडार है–उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं होता। चित्त का अर्थ है वह तत्त्व जो स्वयं को और स्वयं से परे को जानता हो। इसके विपरीत अचित् यानी जड़ तत्त्व है, वह न स्वयं को जनता है, न अन्य को। चिदाकाश में काल की गति नहीं है वह पूर्ण चैतन्य है इसीलिए तुलसी उसे चिदाकाशमाकाश-वासं भजेऽहंश् कहते हैं।

पश्चिम की दृष्टि में पर्यावरण मनुष्य का शत्रु है। वह उसके अस्तित्व के विकास में बाधक और घातक है। इसलिए उसे प्रत्येक स्तर पर समझ कर अपने कब्जे में करता है। उसका दमन करता है, शोषण करता है, ताकि उनकी सभ्यता अपने पर्यावरण से दीर्घ अवधि तक अनुकूलता प्राप्त करके जीवित रह सके। इसके विपरीत वैदिक दृष्टि प्रकृति अथवा पर्यावरण का शोषण, दमन और उपभोग करने की अपेक्षा उससे सहयोग और उपयोग का सहज और स्वाभाविक संबंध स्थापित करती है। क्योंकि मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रकृति का अक्षय रहना नितांत जरूरी है प्रकृति में रहने के लिए कुछ हद तक पर्यावरण का दोहन आवश्यक है। लेकिन दोहन कि क्षतिपूर्ति के लिए पर्यावरण का पोषण प्राथमिक है, नहीं तो पर्यावरण का शोषण होगा, जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरण में प्रदूषण होगा। अगर समाज और व्यवस्था की पुनर्रचना करनी है तो एक ऐसे प्रबुद्ध वर्ग की आवश्यकता है, जो अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्था को निरंतर मूल्यबोध देता रहे। उस वर्ग का निर्धारण आर्थिक आधार पर न होकर, चारित्रिक आधार पर हो। यह वर्ग अपनी बुद्धि से, बोध से और आचरण से आभिजात्य हो। वह इस तरह का प्रबुद्ध वर्ग हो जिसका चरित्र हर क्षेत्र के लोगों को चाहे वे राजनीतिक क्षेत्र के हों, आर्थिक क्षेत्र के हों, या शिक्षा के क्षेत्र के हों–प्रभावित कर सके। उसके द्वारा की गई आलोचना कीमती हो। हमें यह भी देखना होगा कि प्रबुद्ध वर्ग की आजीविका में चरित्र या नैतिक आधार है कि नहीं। भय से पतन होता है। प्रलोभन और संस्कारग्रस्त होने से भी पतन होता है। चरित्र का पतन आजीविका की गिरावट से होता है।

समाज और व्यवस्था की पुनर्रचना करनी है तो एक ऐसे प्रबुद्ध वर्ग की आवश्यकता है, जो अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्था को निरंतर मूल्यबोध देता रहे

आज का तथाकथित बौद्धिक वर्ग अपनी वाणी के विज्ञापन के लिए इस तरह बाजार में उतरता है, जैसे बीच बाजार में तमाशगीर। इससे न तो प्रबुद्धता का स्तर बनता है, न नैतिकता का। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा–'जब सूर्य अस्त हो जाता है, चंद्रमा की चाँदनी भी नहीं रहती, जब आग भी बुझी रहती है, उस समय मानव को प्रकाश देने वाली कौन-सी वस्तु है?' उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं–'वह वाग है। वाग ही पुरुष का प्रकाशक है'।

हमारी बौद्धिक क्रियाओं का यह लक्ष्य होना चाहिए कि इस तरह का एक प्रबुद्ध वर्ग तैयार हो–जिसके हाथ में साहित्य का सृजन, पत्रकारिता और अन्य कलाओं का सृजन हो एवं उनके द्वारा शिक्षण संस्थाओं का संचालन, शिक्षा का सृजन एवं सेवा हो। साथ ही उनके हाथों में चिकित्सा, न्याय और कानून हो। तब समाज में एक नई व्यवस्था की पुनर्रचना संभव है। परंपरा, संस्कृति, समाज और व्यवस्था शाश्वत मूल्यों पर आश्रित होते हैं। इन मूल्यों को ही हम सत्य, शिव और सुंदर कहते हैं। जब घटनाओं के क्रम में एक सामंजस्य और संतुलन आ जाता है, उसे सत्य कहते हैं। आकार, रंग एवं रूप के सामंजस्य को सौंदर्य कहते हैं। इसी तरह प्रकृति के नियमों और सामाजिक संबंधों का भी एक सामंजस्य है–स्वार्थों का सामंजस्य। स्वार्थों का संतुलन। जहाँ आवश्यक स्वार्थों की पूर्ति में संघर्ष नहीं हो–वही इष्ट है और वहीं व्यवस्था मंगलकारी है। ■

(लेखक भारतीय दर्शन के उद्भट विद्वान हैं।)

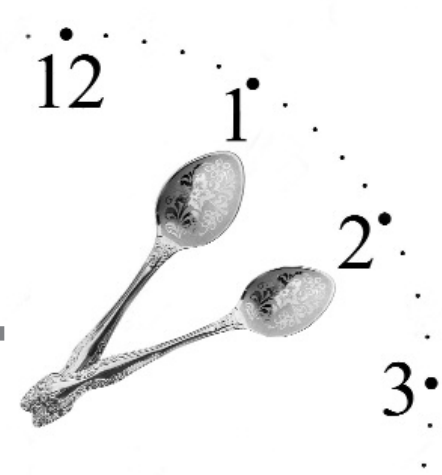

पहला सुख नीरोगी काया

डॉ. ज्योत्स्ना

आयुर्वेद की विशिष्टता समझने के लिए आयुर्वेद को सूत्र रूप में पहले समझना जरूरी है। आयुर्वेद शब्द का अर्थ है 'आयु का ज्ञान' ।

विश्व में हर देश, हर सभ्यता की अपनी दिशा रही है। हमारे यहाँ स्वस्थ समाज के निर्माण पर विशेष बल रहा। जीवन के चारों पुरुषार्थ- काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष की प्राप्ति का साधन शरीर होने से शरीर की विशेष रूप से रक्षा यानी स्वास्थ्य की रक्षा प्राथमिकता से करें, ऐसा कहा गया है। स्वास्थ्य ही मुख्य है और रोग ही दुःख है, ऐसा आयुर्वेद में माना है। हम ही हैं जो दीर्घ जीवन की कामना नहीं करते बल्कि अदीन रहते हुए दीर्घ जीवन सौ वर्ष की कामना करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। यह अदीन जीवन (स्वस्थ जीवन) की इच्छा ही

हमारी स्वस्थ जीवन शैली की नियामक रही और हमारे देश में सदियों तक आयुर्वेद ही चिकित्सा प्रणाली के रूप में विशेष प्रचलित रहा।

आयुर्वेद की विशिष्टता समझने के लिए आयुर्वेद को सूत्र रूप में पहले समझना जरूरी है। आयुर्वेद शब्द का अर्थ है 'आयु का ज्ञान'। हितकर और अहितकर सुखकारी और दुःखकारी आयु का भान का जहाँ वर्णन है, वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद का उद्देश्य ''स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं आतुरस्य विकार प्रशमनम् च'' अर्थात् स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी के रोग को दूर करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारे शास्त्रों में आहार, आचार, चेष्टाओं का वर्णन है जो कालानुरूप (मौसम व आयु अनुरूप), देशानुरूप (स्थान) व प्रकृति के अनुरूप हो जिससे हम स्वस्थ रहें। स्वस्थ व्यक्ति स्वस्थ रहते हुए दीर्ध और सुखी आयु को कैसे प्राप्त करे यह सिर्फ हमारे शास्त्रों में ही नहीं हमारे समाज के स्वभाव में परंपराओं के रूप में व्याप्त था, यह हमारे स्वभाव से कैसे विलुप्त हुआ और हम क्यों केवल रोगी होकर चिकित्सा पर ही निर्भर रहने लगे इसकी चिंता आवश्यक है। क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज का आधार है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य की परिभाषा की है–

Health is a state of complete Physical, Mental and Social well being and not merely an absence of disease.

यह परिभाषा आयुर्वेद में सुश्रुत की तद्विषयक परिभाषा से पूर्णतया प्रभावित है 'समदोषः समाग्निश्च सम धातु मलक्रियः प्रस्न्नात्मेनद्रियमनाः स्वस्थ इति अभिधीयते', यानी जिसकी सभी शारीरिक क्रियाएँ सम्यक् हों और वह प्रसन्न आत्मा इंद्रिय व मन वाला हो। यानी सिर्फ शारीरिक स्वास्थ्य नहीं मानसिक स्वास्थ्य की भी रक्षा करनी चाहिए। तभी हम एक स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकते हैं।

आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य को हमारे आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक तीन उपस्तंभ कहा गया है। आहार स्वास्थ्य का प्रमुख आधार है इसमें कही भी मतभिन्नता नहीं हो सकती। आज सभी सुप्रतिष्ठित अस्पतालों में डाइटिशियन, न्यूट्रीशन एक्सपर्ट आवश्यक हैं। अच्छा है कि महत्त्व को समझा गया लेकिन क्या आज की वैज्ञानिक सोच से जो आहार को केवल कैलोरीज, कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन आदि के आधार पर ही समझा जाए या इसे अपने शास्त्रों के आहार की अपनी वैज्ञानिक समझ को भी पहचानना आवश्यक है। यदि देश को 'सभी को स्वास्थ्य' के उद्देश्य को प्राप्त करना है तो यह तो निश्चित है कि हमें सभी पक्षों को देखना होगा। केवल अस्पताल और चिकित्सा सेवाओं के विस्तार से इस लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमें इस अंतर को समझना होगा कि हमें स्वास्थ्य का विस्तार चाहिए या चिकित्सा सेवाओं की उपलब्धता।

आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य को हमारे आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक तीन उपस्तम्य कहा गया है। आहार स्वास्थ्य का प्रमुख आधार है इसमें कहीं भी मतभिन्नता नहीं हो सकती।

आयुर्वेद में जो भी मुँह से लिया जाए वह आहार है। 'अन्न ही प्राण हैं,' ऐसा हम मानते आए हैं। आयुर्वेद में आहार के वर्णन को आगे समझेंगे लेकिन पहले अन्न की बात चली है तो यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि अन्न या आहार आखिर आज हमें किस रूप में मिल रहा है? क्या हमें यह सोचने की जरूरत नहीं है कि स्वास्थ्य का एक प्रमुख आधार अन्न आज बदलती कृषि के कारण

किस अवस्था को प्राप्त हो गया है? क्या अन्न का उत्पादन या कृषि संबंधी शोध में पोषण का प्रथम स्थान नहीं होना चाहिए? वह समाज जहाँ किसान को अन्नदाता समझा जाता हो और अन्न को प्राण, वहाँ किसान प्राणदाता भी है। ऐसे में क्या कृषि उत्पादन की दिशा केवल बाजार की आवश्यकता के

लिए हो? खाद्य पदार्थों के उत्पादन, शोध और बाजार को हमें कृषि और स्वास्थ्य दोनों विभागों की सम्मिलित व्यवस्था बनानी चाहिए क्योंकि हितकर भोज्य के बिना स्वास्थ्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

हमारे देश में भोजन परंपरा बहुत विविध व विकसित है। इन्हीं परंपराओं से जन साधारण में वैज्ञानिक सिद्धांत प्रचलित रहते हैं। परंपराएँ बहुत लंबे समय तक समाज के अनुभव से विकसित होती हैं। हमारे देश में जहाँ विभिन्न प्रकार की भूमि है, विभिन्न मौसम व उपज है वहाँ भोजन में विविधता स्वाभाविक भी है और वैज्ञानिक आधृत भी है। स्थानीय उपज और मौसम के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों की भोजन परंपराएँ जो शरीर के अनुकूल हैं विकसित हुईं, लेकिन आज वैश्वीकरण के दौर में यह विविधता नष्ट हो रही है, भोजन की इस विज्ञान सम्मत विविधता के नष्ट होने का सीधा प्रभाव समाज के स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। इसी कारण आज बहुत लोग खराब जीवन शैली से संबंधित रोग या दु:ख झेलने को बाध्य हो रहे हैं। अतः समय है कि आज हम अपनी भोजन परंपराओं को पुनर्जीवित कर व्यवस्था की रक्षा करने के अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करें।

आयुर्वेद शास्त्रों में चरक के अनुसार भोजन में षड्रसों का युक्तिपूर्वक आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए। षड्रस हैं–मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा),लवण (नमकीन), कटु (तीखा), तिक्त, (कड़ुआ) व कषाय (कसैला)। इस प्रकार इनके सम्यक् प्रयोग से शरीर का उचित पोषण होता है। आज जब संतुलित आहार और एंटीऑक्सीडेंटस् की बहुत चर्चा हो रही है तो एक बार यदि हमारे इन षड्रसों के उपयोग को समझा जाए तो देखेंगे कि जिसे आज वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्तम भोजन कहते हैं वह हमारे पारंपरिक भोजन का नियमित अंग था। आयुर्वेद में भोजन के विषय में कुछ विशिष्ट बातों का ध्यान रखने पर जोर दिया गया है। जैसे **अग्नि**–यानी भोजन करने वाले की पाचन क्षमता के अनुसार विषयों को ध्यान में रखकर उसे युक्तिपूर्वक सुपाच्य बनाना–

प्रकृति

यानी भोजन करने वाले की शारीरिक प्रकृति तथा अग्नि और भोज्य पदार्थ की प्रकृति का सम्यक् ध्यान

रखना–जैसे उड़द प्रकृति से पाचन में गुरु व मूँग लघु।

करण

यानी भोज्य पदार्थ के स्वाभाविक गुणों में किसी संस्कार से परिवर्तन करना जैसे उड़द को अदरक, काली मिर्च आदि के प्रयोग से सुपाच्य बनाना।

संयोग

दो या दो से अधिक द्रव्यों को मिलाकर भोजन करने वाले के उपयुक्त बनाना।

यात्रा

यात्रा में कैसा भोजन लिया जाए और उसमे प्रत्येक द्रव्य या इसका किस अनुपात में संयोग कराया जाए।

देश

यह आयुर्वेद का एक बहुप्रचलित व लोक-परंपराओं में स्थापित सिद्धांत है। देश का अर्थ है–स्थान अर्थात् किस देश-प्रदेश में वहाँ के वातावरण के अनुरूप क्या खाया जाना चाहिए। इसी कारण हमारे देश में विभिन्न प्रदेशों में भूमि पारिस्थितिकी भिन्न होने से वहाँ की भोजन परंपराएँ वहाँ के अनुरूप ही प्रचलित हुई हैं।

काल

काल का अर्थ है समय यानी वर्ष का काल (मौसम), दिन का काल (रात-दिन), भोजन लेने वाले की वय (आयु) का ध्यान रखकर भोजन व्यवस्था। इसी कारण हमारे भोजन में विभिन्न मौसम में भिन्न-भिन्न खान-पान परंपरागत रूप से प्रचलित है। इतना ही नहीं दिन और रात्रि के अनुसार भी किस भोजन को लेना है और किसका निषेध है यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसे ही ऋतुचर्या और दिनचर्या अनुरूप व्यवस्था कहते है। यानी रीजनल और सीजनल। वैश्वीकरण के दौर में मौसम व देश (स्थान) के अनुरूप भोजन की विविधता को नष्ट कर जो रोगों को निमंत्रण दे रहे हैं उसे समझें और अपनी परंपरा को अक्षुण्ण रखें।

आहार के सामान ही निद्रा और ब्रह्मचर्य भी स्वास्थ्य रक्षा का आवश्यक अंग है। निद्रा का यानी स्वाभाविक रूप से शरीर के थकने पर अपने समय पर नींद का आना। स्वाभाविक निद्रा शरीर और मन को अपने सभी कार्यों को करने में सक्षम रखती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है कायिक व मानसिक संयम, इंद्रियार्थों का संयमित संयोग। असमय निद्रा और असंयमित जीवन स्वास्थ्य के लिए खतरा है। ''भोगान् न् मुक्तम् वयमेव मुक्तम'' यानी हम भोगों को नहीं भोगते बल्कि भोग ही हमें भोग रहे होते हैं। यह इंद्रियार्थों का असंयम जीवन के लिए ही खतरा है।

स्वास्थ्य की परिभाषा के पहले ही हमने देखा कि स्वस्थ व्यक्ति को प्रसन्न आत्मा, इंद्रिय, मन वाला होना चाहिए। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार भी व्यक्ति को न सिर्फ शारीरिक रूप से बल्कि मानसिक व सामाजिक रूप से भी स्वस्थ होना चाहिए। स्वास्थ्य की रक्षा के लिए शारीरिक शिक्षा जितनी आवश्यक है, मानसिक और सामाजिक व्यवहार की शिक्षा भी उतनी ही जरूरी है, जिससे कि स्वस्थ समाज का विकास किया जा सके। इसलिए यह आवश्यक है कि हम स्वास्थ्य के प्रति अपने दृष्टिकोण को व्यापक करें क्योंकि सदाचार और सद्व्रत भी आहार के सामान ही स्वास्थ्य के आवश्यक अंग है। ■

(लेखिका आयुर्वेद कॉलेज, मोगा में प्राध्यापिका हैं।)

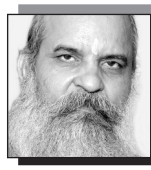

डॉ. विनोद बब्बर

संयम और मर्यादा बेशक व्याकरण की दृष्टि से भिन्न शब्द दिखाई देते हों, परंतु व्यवहार की दृष्टि से, ये दोनों किसी सिक्के के दोनों पहलुओं की तरह अभिन्न, अटूट हैं।

अमर्यादित संबंधों की विकृतियाँ

सभी जीवों में मनुष्य को श्रेष्ठ घोषित करने वाले सर्वप्रथम विद्वान् के मन में मनुष्य जाति की कौन-कौन सी विशेषताएँ रही होंगी, कहना मुश्किल है। परंतु, इतना सुनिश्चित है कि इन विशेषताओं में मनुष्य का विवेक और संयम सर्वोपरि होगा। संयम और मर्यादा बेशक व्याकरण की दृष्टि से भिन्न शब्द दिखाई देते हों, परंतु व्यवहार की दृष्ठि से, ये दोनों किसी सिक्के के दोनों पहलुओं की तरह अभिन्न, अटूट हैं।

जब हम भारतीय संस्कृति पर दृष्टिपात करते हैं, तो सर्वप्रथम मनुस्मृति की ओर हमारा ध्यान जाता है। मनुजी ने हमसे देवता अथवा असाधारण जीव बनने के लिए नहीं कहा। उन्होंने केवल 'मनुर्भव' का विस्तृत रोड-मैप हमारे सामने प्रस्तुत किया। बेशक उनकी कुछ बातों पर राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से विवाद रहे हैं, परंतु संपूर्ण मनुस्मृति को खारिज करना उचित नहीं होगा। उन्होंने इस जगत रूपी रंगमंच पर जीवन की विभिन्न

अवस्थाओं/रिश्तों में किए जाने वाले अभिनय की जिस मर्यादित पटकथा को प्रस्तुत किया है, उससे हमें रिश्तों की मर्यादा और दायित्व का बोध होता है।

एक पुत्र, पिता, मित्र, शत्रु, गुरु, शिष्य, भ्राता, पति, मंत्री, दास, माता, बहन, पत्नी, पुत्री, सखी जैसे अनेकानेक संबंध हमें निभाने पड़ते हैं। मनु जी ने सभी रिश्तों का कर्तव्यबोध हमें बहुत स्पष्टता और सहजता से करवाया है। आज, चूँकि हमारी विवेचन का केंद्र बिंदु स्त्री-पुरुष संबंध है इसलिए सर्वप्रथम बात पत्नी और पति के व्यवहार पर ही करना उचित होगा। एक पत्नी के लिए मनुस्मृति का कथन है–

कार्येषु मंत्री, करणेषु दासी/ भोजनेषु माता,
शयनेषु रम्भा,
मनोनुकूला, क्षमा-धारणी/ एषे षट गुणयुक्त
भवान धर्म-पत्नीः।।

अर्थात् यदि आप कार्य में मंत्री जैसी योग्यता रखती हैं, मंत्री जिसकी प्राथमिकता राज्य का हित होता है, उसी प्रकार आपकी प्राथमिकता इस परिवार का हित है। आप में दासी जैसा सेवाभाव है, पति अथवा परिवार को भोजन करवाते समय माँ जैसी संवेदनशीलता है अर्थात् बच्चे के हित में उसे क्या देना उचित होगा, यह माँ से बेहतर कोई नहीं जान सकता। शयन कक्ष में अप्सरा रम्भा जैसी हैं, मनोनुकूला हैं और पति के छोटे-बड़ें दोषों को क्षमा करने जैसा विशाल हृदय रखती हैं। यदि आप में ये छह गुण हैं तो आप तभी एक सुयोग्य धर्मपत्नी हैं।

आज के भौतिकवादी युग में जबकि नर-नारी समानता का शोर ज्यादा है, पढ़ी-लिखी, आत्मनिर्भर ही नहीं, परिवार का आर्थिक पोषण करने वाली, सुंदरता की प्रतिमूर्ति आधुनिक नारी से इन षटगुणों की अपेक्षा करना कितना उचित है, यह अलग से विस्तृत चर्चा का विषय हो सकता है। हाँ, यह जरूर स्वीकार करना पड़ेगा कि नारी सम्मान और नारी आक्रामकता दो अलग-अलग विषय हैं। खुलेपन के नाम पर परिवार और समाज की मर्यादा को पैरों तले रौंदना आधुनिकता का पर्याय मानने वाले ही परिवार-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के दोषी हैं।

ऐसा नहीं है कि मनु जी ने अथवा हमारे अन्य मार्गदर्शकों ने पुरुष के लिए कोई मर्यादा नहीं बनाई। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम ने स्वयं अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर माता सीता की अनुपस्थिति में उनकी स्वर्ण-प्रतिमा रखकर सभी धार्मिक कर्तव्यों का निर्वहन किया था। वे एक पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य के विषय में कुछ सुनने तक के विरुद्ध थे। 'रामचरितमानस' में बाली-वध के अवसर पर स्पष्ट कहा गया है कि जो मर्यादा को भूलकर नारी को कुदृष्टि से देखता है, उसे मारने में कोई दोष नहीं है।

हमारे समाज ने अपने मार्गदर्शकों, सद्ग्रंथों और

नायकों का तब तक श्रद्धा से अनुसरण किया, जब तक उनके चरित्र के प्रति ज्ञान रहा। आधुनिकता के नाम पर हमने उनकी चर्चा तक छोड़ दी। मर्यादा की झीनी-झीनी लक्ष्मण रेखा जो इनके चरित्र का श्रवण-चिंतन करते हुए दिखाई देती थी, परंतु ज्यों ही पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति के प्रभाव में आकर हमने अपने नायकों को विस्मृत किया, जीवन और जीवन शैली में बुनियादी परिवर्तन हो गए। भौतिकता की चमक-दमक ने क्या पुरुष और क्या नारी सभी को चकाचौंध कर दिया। धन की मृगतृष्णा बढ़ी, इसलिए उसे हर कीमत पर हासिल करने के तौर-तरीके भी मर्यादा की पटरी से कब उतर गए पता ही नहीं चला। धन ने वैभव और भोग-विलास की एक विचित्र, मगर विकृत दुनिया का द्वार खोला। स्त्री-पुरुष संबंध भी इनकी आंच से अछूते नहीं रहे। जन्म-जन्म का साथ निभाने वाले संबंध अचानक छोटी-छोटी बातों पर चटकने लगे। परिणाम में तनाव, अलगाव, विवाह-विच्छेद, तलाक ही नहीं, अवैध संबंधों का श्राप भी मिला।

जहाँ विवाहेतर संबंधों ने अपना विषैला जाल बुना, वहीं बिना विवाह किए साथ-साथ रहने का प्रचलन भी तेजी से बढ़ा। 'बिना बंधन, सब सुख' लेने की चाह ने समाज के सामने कई नई समस्याओं का पिटारा खोल दिया है। तथाकथित आधुनिक विचारकों के पास इस परिकल्पना की हजारों विशेषताएँ (जिन्हें स्वच्छंदताएँ कहना ज्यादा उचित होगा) मौजूद हैं, परंतु, ऐसे संबंधों से उत्पन्न संतान के भविष्य के प्रति वे अक्सर खामोश रहना ही पसंद करते हैं। उन्हें यह भी स्वीकार नहीं कि नारी स्वतंत्रता के नाम पर तैयार किए गए नारों से सर्वाधिक नुकसान नारी का ही है। जिस पश्चिमी दुनिया के अनुसरण के लिए वे मचल रहे हैं, उसी का परिणाम है कि अवैध संबंध, एक ही व्यक्ति के जीवन में अनेक बार विवाह-तलाक, युवा पीढ़ी पर इसके प्रभावों जैसे कारकों पर चिंतन से बचते नजर आते हैं। ऐसे लोगों से पूछा जा सकता है कि क्या मानव जीवन का उद्देश्य केवल आत्मकेंद्रित होकर जीना ही है अथवा उसका अपने परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के प्रति भी कुछ दायित्व है?

'काम' मनुष्य की आवश्यकता है। संसार के निर्विघ्न संचालन में इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। हमारे पूर्वजों ने भी धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का महत्त्व समझाया है। उन्होंने काम को नकारा नहीं है। परंतु, उसे प्रथम अथवा द्वितीय स्थान पर नहीं रखा। कामदेव को जिस मर्यादा और संयम का आवरण देकर पूजनीय माना गया है, उसके बेपर्दा होते ही संसार के सामने अस्तित्व का संकट उत्पन्न होने लगा है। एड्स जैसे भयावह रोग स्वच्छंदता के उप-उत्पाद हैं। आश्चर्य की बात है कि एड्स से बचाव के लिए दुनिया भर की तरह भारत में भी संयम की बजाय 'कंडोम' की सलाह दी जा रही है।

यह सर्वविदित है कि जब परंपराएँ ढहती हैं तो उन्हें रोकना दुष्कर होता है। स्त्री-पुरुष संबंध अनुबंध बनने की दिशा में आगे बढ़े और अवैध संबंधों से लुढ़कते-फिसलते समलैंगिकता की गहरी गंदी नाली तक जा पहुँचे हैं। इसलिए जरूरत है आत्म-निरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन की।

पिछले दिनों, उच्चतम न्यायलय द्वारा दिए गए एक

फैसले के अनुसार, बिना विवाह किए साथ रहने वाले संबंधों के विषय में कहा गया है कि बेशक ऐसी शादी कानूनी दृष्टि से उचित न हो, पर उसे अनैतिक करार नहीं दिया जा सकता। यदि हम अदालत की इस दलील का गहराई से अध्ययन करें, तो एक बात स्पष्ट होती है कि शादियाँ कम-से-कम दो प्रकार की होती हैं। एक कानूनी, दूसरी गैरकानूनी। इन्हें नैतिक और अनैतिक जसी शब्दों में भी बाँधा जा रहा है। अदालत के इस फैसले के अनुसार कानूनी शादी ही नैतिक होती है अर्थात् जब कोई पुरुष समाज और रिश्तेदारों की उपस्थिति में तमाम रीति-रिवाजों को निभाते हुए किसी महिला के साथ सात फेरे लेकर ब्याह कर लाए तो उसकी यह कानूनी शादी मानी जाती है। हाँ, यहाँ यह शर्त जरूर है कि उसने इससे पहले खुलेआम अथवा चोरी-छिपे शादी न की हुई हो। यह टिप्पणी उच्चतम न्यायालय ने एक विधुर पुरुष की एक शादीशुदा महिला जिसका पूर्व पति से विवाद तो चल रहा था, परंतु विधिवत तलाक नहीं हुआ था, के संबंध में अपने फैसले में की थी। उस महिला ने अपने दूसरे विवाह संबंधों के आधार पर उस विधुर व्यक्ति से गुजारे भत्ते की माँग की थी। अदालत ने शादी को कानूनी दृष्टि से नाजायज मानते हुए भी अनैतिक नहीं माना और एक तरह से नाजायज संबंधों को मान्यता देते हुए उसके गुजारे भत्ते की माँग को उचित ठहराया। ऐसे में प्रश्न यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी से तलाक लिए बिना दूसरी शादी कर लेता है, तो कानून की निगाह में वह गुनहगार हो जाता है। परंतु स्त्री के मामले में माननीय न्यायालय ने इसी नियम को क्यों स्वीकार नहीं किया? ऐसे में बहुत संभव है, इस प्रकार के विवाद बढ़ेंगे।

हमारे समाज ने अपने मार्गदर्शकों, सद्ग्रंथों और नायकों का तब तक श्रद्धा से अनुसरण किया, जब तक उनके चरित्र के प्रति ज्ञान रहा। आधुनिकता के नाम पर हमने उनकी चर्चा तक छोड़ दी।

यह सर्वविदित है कि अवैध संबंधों के प्रचार-प्रसार के इस दौर में, तलाकशुदा अथवा विधुर व्यक्ति ही नहीं, बहुत-से लोग ऐसे संबंध रखने लगे हैं। यदि इस परंपरा को आगे बढ़ाया गया तो यह न केवल परिवार संस्था को नष्ट कर सकता है बल्कि समाज में व्यभिचार फैलाने का कारण भी बन सकता है। इसलिए समाज, सरकार और न्यायाधीशों को भी नई परिस्थितियों में नई चुनौतियों का सामना करने के लिए कुछ नई, मगर नैतिक मूल्यों को कायम रखने वाली पहल करनी होगी। इस बदलते-बिगड़ते परिवेश में सबसे बड़े खलनायक की भूमिका निभा रहा है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया। सीता, दमयंती, सावित्री के देश में एक स्त्री के एक से अधिक संबंधों को शान से दिखाने वाले धारावाहिक संपूर्ण वातावरण को दूषित कर रहे हैं। वायु-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, मृदा-प्रदूषण से भी भयंकर इस सांस्कृतिक प्रदूषण के प्रति समाज और सरकार की चुप्पी एक अक्षम्य अपराध है। हर तरह से योग्य ही नहीं, अपने समय का सर्वश्रेष्ठ चरित्र होते हुए भी पितामह भीष्म को वह सम्मान नहीं मिल सका, तो केवल इसीलिए कि वह द्रोपदी के चीर-हरण के समय खामोश बने रहे थे। यदि सदियों बाद आज भी, उन्हें उस अपराध-दोष से मुक्त नहीं किया गया, तो स्त्री-पुरुष संबंधों के माध्यम से व्यक्ति, परिवार और समाज को विकृत करने की कोशिशों के प्रति हमारी-आपकी चुप्पी को इतिहास क्षमा करेगा, भी तो आखिर क्यों? ■

(लेखक राष्ट्रीय चेतना की पत्रिका 'राष्ट्र किंकर' के संपादक हैं।)

हाल ही में चीन–यात्रा से लौटी डॉ. शीला कमल टावरी ने वहां शंघाई में जिस प्रकार वृक्षों के प्रति सामान्य जन का स्नेह व सद्भाव देखा, वह वास्तव में अनूठा है, अनुकरणीय है।

वृक्ष हमारे मित्र हैं

डॉ. शीला कमल टावरी

पिछले दिनों चीन की यात्रा करने का संयोग हुआ। वैसे तो घुमक्कड़ी में कहीं भी जाने के लिए सदैव तैयार रहने वालों के लिए सीमा के उस पार जाने का मौका मिला तो कहने ही क्या? लेकिन चीन और पाकिस्तान की बात कुछ और ही है। हमारे पक्के पड़ोसी जो ठहरे! वैसे क्रिकेट की समझ के बारे में हमारा हाथ कुछ तंग ही है। एक टीम में कितने खिलाड़ी, यह भी बताने में हमें थोड़ा सोचकर ही जवाब देना पड़ता है, लेकिन भारत-पाकिस्तान के मैच के समय टी.वी. के आगे हमें भी फेवीकोल से चिपके हुआ देखा जा सकता है। यह हमारी देशभक्ति का इंडिकेटर जो है। सो बात हो रही थी चीन की यात्रा की। हमारा पहला पड़ाव रहा चीन का शंघाई शहर। जब से 'आमची मुंबई' को शंघाई बना देने का सपना हमें दिखाया गया और हम भी

सोते-जागते वह सपना देखने लगे तब से शंघाई हमारी विशेष उत्कंठा का केंद्र बना हुआ था। और मौका आ ही गया।

शंघाई एयरपोर्ट से होटल शंघाई (यही नाम था हमारे होटल का) पहुँचने में कोई चालीस मिनट लगे थे। इतनी देर में शंघाई ने मेरा दिल जीता या नहीं, यह तो मैं दावे से नहीं कह सकती पर हाँ, उसने मुझे दिल थाम के बैठने पर मजबूर अवश्य कर दिया। इन चालीस मिनटों के सफर में शंघाई का जो पहला चित्र मेरे दिल पर अंकित हुआ उससे मैं बहुत डर-सी गई। हमारी मुंबई को शंघाई जो बनाना है। (माफ करें। हम 'स्वच्छ भारत' से भी उतने ही डरे हुए हैं।) शंघाई की अत्याधुनिक अट्टालिकाओं ने ही नहीं, वहाँ के अत्यंत खूबसूरत रास्तों ने और वहाँ की अवर्णनीय साफ-सफाई ने मुझे हैरत में डाल दिया था। लेकिन इस सब से ऊपर थी वहाँ की हरियाली। होटल तक पहुँचते-पहुँचते लगा इस शहर में बगीचे नहीं, यह शहर ही बगीचे में बसा हुआ है। अच्छा है, ये चीनी लोग क्रिकेट नहीं खेलते। हमें लगता है, पाकिस्तान से हमारी दुश्मनी से क्रिकेट के रंग कुछ ज्यादा ही गहरे नजर आते हैं। अब यहाँ 'हिंदी चीनी भाई-भाई' की पृष्ठभूमि को 'आमची मुंबई' ने और गहरा कर दिया था। लेकिन शंघाई के बगीचे तो बगीचे, सड़क किनारे खिलखिलाने वाले, करीने से लगे अनगिनत फूलों ने हमारे ऊपर मोहिनीमंत्र या कहें तो पुष्पधन्वा के पंचशर चला ही दिए थे।

शंघाई में चीयरिंग साँग हमारा फुल टाइम गाइड या यूँ कहें कि लोकल गार्जियन था। दुबला-पतला, साधारण-सा दिखनेवाला, होगा कोई तीस साल का युवा। उम्र के बारे में जरा माफ करना। इन चीनियों की उम्र का पता ही नहीं चलता। लेकिन जिस किसी ने उसका नाम रखा होगा–अपने नाम पर बिल्कुल खरा था वह। एकदम चीयरिंग। उसके दिल की खूबसूरती उसके चेहरे पर उतरी हुई नजर आती थी। एयरपोर्ट पर रिसीव करने आया तब बड़ा कन्फ्यूज्ड-सा लगा। लेकिन उसने अपनी यह स्थिति छिपाने का कोई प्रयास नहीं किया। अगले दिन उसने शंघाई की कुछ सड़कें दिखाने का प्रस्ताव रखा, तो हम में से कोई भी उसे गंभीरता से लेने के लिए राजी नहीं था। लेकिन उस चीनी बंदे ने हमें पटा ही लिया। दोपहर लंच के बाद साँग के साथ हम सबने अपने आप को पुराने फ्रेंच कंसेशन में घूमते हुए पाया।

शंघाई के बगीचे तो बगीचे, सड़क किनारे खिलखिलाने वाले, करीने से लगे अनगिनत फूलों ने हमारे ऊपर मोहिनीमंत्र या कहें तो पुष्पधन्वा के पंचशर चला ही दिए थे।

यह पुराना फ्रेंच कंसेशन शंघाई शहर का एक निहायत खूबसूरत इलाका है। हमारे होटल से यही कोई दस मिनट का रास्ता होगा। इस दो करोड़ से भी ज्यादा आबादी वाले शहर के बीच ऐसी शांत सड़कें–दोनों ओर घने वृक्षों से घिरी हुईं। इन रास्तों पर लगे हुए ये वृक्ष बीसवीं सदी के आरंभ में फ्रांसीसियों द्वारा लगाए गए थे। चीनियों ने उन्हें प्रयत्नपूर्वक सँभाल कर रखा है। पुरानी कई इमारतों की जगह नए मॉल खड़े हो गए हैं। पर पेड़ों को सुरक्षित रखा गया। ये पेड़ ही यहाँ की असली खूबसूरती और आकर्षण हैं। इनकी घनी छाँव में यहाँ पर पैदल चलना यही एक अप्रतिम आह्लादकारी अनुभव है। साँग ने हमें फूशिंग की भी

सैर कराई। दोनों ओर घने वृक्षों से घिरी इस पतली-सी सड़क पर शंघाई सिंफनी की राजसी इमारत खड़ी है। शाम होते-होते यहाँ पर फैशनेबल युवाओं का मजमा लगना शुरू हो जाता है। उसपर सैलानियों की भीड़। साँझ के समय तो हवा में अद्‌भुत् रूमानियत छाने लगाती है। (और तेज दिमाग वाले चीनियों ने उसे बखूबी टूरिस्ट एट्रेक्शन बना भी रखा है।) ये सड़कें हमें अहसास कराती हैं कि वृक्ष हमारे मित्र हैं और हम इन मित्रों को बराबर खोते जा रहे हैं।

बात जब पेड़ों की सुरक्षा की होने लगी तो साँग ने मेरा ध्यान कुछ ऐसे पेड़ों की ओर खींचा जिनके तनों पर रस्सी लपेटी हुई थी। चीन के अगले दस दिनों के प्रवास में यह चित्र कई जगह नजर आया। न केवल तने पर रस्सी लपेटी हुई, कई जगह पेड़ों की टूटती टहनियों को बाँधकर उनके नीचे लोहे के पाइप या बाँस से सहारा दिया हुआ देखने में आया, मानो किसी आदमी के फ्रैक्चर होने पर उसे बैसाखी लगा दी गई हो। कहीं-कहीं पेड़ के दोनों ओर बाँस या लोहे के पाइप गाड़ कर बीच में एक आड़ी लकड़ी बाँधकर पेड़ को सहारा दिया गया है। यह सारी कवायद एक-एक पेड़ को बचाने के लिए। भई, इसकी क्या जरूरत? पेड़ है, कोई आदमी तो नहीं। कुछ टहनियाँ टूट जाने से क्या होता है?

मुझे याद आया लगभग बीस साल पहले मैंने अमरीका के बोस्टन शहर में पेड़ों को आधार देने के लिए पेड़ के दोनों ओर पाइप गाड़कर रबड़ की बेल्ट बाँधी हुई देखी थी। मुझे बताया गया था कि रबड़ की बेल्ट से पेड़ को सहारा भी मिलता है और वह हवा की झोकों में झूल भी सकता है, जिससे उसकी एक प्रकार से कसरत होती रहती है और उसका तना मजबूत बनता है। पेड़ की कसरत की यह बात सुनकर बहुत देर तक मैं अपनी हँसी रोक नहीं पाई थी। अब यहाँ चीन में मैं एक-एक पेड़ की एक-एक टहनी को सँभाले जाने की बात देख रही हूँ। लेकिन साँग की एक ही टिप्पणी ने मुझे धरातल पर ला दिया था। उसने कहा–मिलियंस ऑफ पीपल, मिलियंस ऑफ ट्रीज। वी हेव टू प्रोटेक्ट ट्रीज लाइक पीपल। अदरवाइज बी प्रिपेअर्ड फॉर डेजर्टिफिकेशन। लाखों लोग, लाखों पेड़। हमें पेड़ों की सुरक्षा लोगों जैसी ही करनी पड़ेगी। नहीं तो तैयार रहना पड़ेगा मरुस्थलीकरण के लिए। इसके बाद साँग काफी देर तक शंघाई के मिलियन ट्रीज प्रोजेक्ट के बारे में बताता रहा। कैसे 2007 के बाद उन्होंने दस लाख

से भी ज्यादा पेड़ लगाकर रेगिस्तान को पिछाड़ने का बीड़ा उठाया है। अगर चीन 'ग्रेट वॉल ऑफ चाइना' बना सकता है तो अब वह ग्रीन वॉल ऑफ चाइना भी बनाकर दिखाएगा। सब लोगों का 'मनी, टाइम एंड मसल'–धन, समय एवं श्रम–साथ लगेंगे तो असंभव कुछ भी नहीं है। हाँ, इसके लिए हम पेड़ लगाते हैं तो साथ-साथ एक-एक पेड़ को सँभालते भी हैं। मेरे सामने फिर एक बार 'आमची मुंबई' का चित्र आ खड़ा हुआ। क्या हमारे लिए यह संभव होगा?

साँग ने पहले ही बताया था। शाम को छह बजे के बाद वह रुक नहीं पाएगा। उसे 'योगा' की क्लास में जाना होता है और उसे वह किसी कीमत पर मिस करना नहीं चाहता। हमें होटल छोड़ कर वह चला गया। मैं काफी देर तक उसकी पेड़-क्रांति और 'योगा' के बारे में सोचती रही। चीन पर जनसंख्या का बोझ हमसे कुछ ज्यादा ही है। फिर भी यह प्रगति?

चीन के प्रवास के अगले सभी दिन खुशनुमा तो थे ही, सोचने को मजबूर करने वाले ज्यादा थे। 'आमची मुंबई' के बारे में सोच कर परेशानी और घबराहट ज्यादा थी। चीन ने जो किया है, क्या हम कर सकते हैं? चीन ने एक दशक के अंदर कई लाख वृक्षों का आरोपण, संगोपन एवं संवर्धन किया है और आज चीन में किसी को विशेष सम्मानित करना हो तो उसके नाम से वृक्ष लगाने की परंपरा शुरू हो गई है। परंपराएँ हमारे पास बहुत थीं। पर उन्हें याद रहा हम भूल गए...। स्पर्धा, ताकत, अनुशासन...आज चीन हमसे बहुत आगे निकल गया है। और फिर रोज-रोज आने वाली खबरें...चीन ने भारत की सीमा तक रेल लाइन बिछा ली है...

यहाँ आने के बाद कुछ ही दिनों में दिल्ली के सुप्रसिद्ध, वयोवृद्ध समाजसेवी श्री लक्ष्मीनारायणजी मोदी से भेंट का सुअवसर प्राप्त हुआ। मोदीजी के संग्रह की एक पुस्तक पढ़ने में आयी-**'वृक्ष-आयुर्वेद'**, जो शार्ङ्गधर संहिता पर आधरित है एवं प्रोफेसर एस.के. रामचंद्र राव द्वारा संपादित है। प्रोफेसर राव के अनुसार **'वृक्ष-आयुर्वेद'** भारत में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के जितना ही पुराना है। शार्ङ्गधर संहिता भी तेरहवीं शती में लिखी गई। इसे पढ़ने पर आँखें तो खुल जातीं हैं, पर सर शर्म से झुक जाता है। आँखें इसलिए खुल जाती हैं कि

हमारे पूर्वजों ने कितना सोचा, कितना लिखकर भी रखा जिसकी वैज्ञानिकता में तनिक भी संदेह नहीं है। सर शर्म से इसलिए झुक जाता है कि हमने इस परमश्रेष्ठ ज्ञान को, उपलब्ध होने के बावजूद बिसरा दिया। 'पुत्र-पुत्र' करने वाले हमारे आज के समाज को 'बेटी बचाओ' जैसे आंदोलन चलाने पड़ रहे हैं और तेरहवीं शती की यह पुस्तक कह रही है–

बहुभिर्बत किं जातैःपुत्रैर्धर्मार्थवर्जितैः।
वरमेकः पथि तरुः यत्र विश्रमते जनः।।

अर्थात् बहुत सारे गुणहीन पुत्र होने से तो राह किनारे एक पेड़ लगाना ज्यादा अच्छा है, जहाँ कई लोगों को विश्राम मिल सकता है। यही संहिता 'दशपुत्रसमो तरुः'–एक पेड़ दस पुत्रों के समान है, ऐसी घोषणा भी करती है। 'तरुचिकित्सा' प्रकरण में 'प्लांट पैथालॉजी' की विस्तृत चर्चा की गई है। मनुष्य के जैसी ही वृक्षों में भी कफ, वात एवं पित्त प्रकृति होती है। अतः उसे पहचान कर उपचार करने चाहिएँ, ताकि वृक्ष की बीमारी का जड़ से निराकरण हो सके। यह पढ़कर आश्चर्य होता है कि हवा से जिनकी टहनियाँ टूट गई हों, जो आग में झुलसे हों या जो बिजली गिरने से आहत हों–इन सबके उपचार अलग-अलग हैं। फल या फूल धारण करने में अक्षम वृक्षों की चिकित्सा के सरल एवं प्राकृतिक उपाय पढ़कर अपनी ही अज्ञानता पर दया आती है। इन शास्त्रों में यह चिकित्सा करने में वही सूक्ष्म कार्यक्षमता झलकती है जो कि किसी इन्फर्टिलिटी क्लिनिक में की जाती है।

इस पुस्तक को पढ़ने पर दो बातें साफ हो जाती हैं–वृक्षसंगोपन एवं वृक्षसंवर्धन कोई चीन या अमेरिका की ईजाद नहीं है। सदियों पहले से भारत में वृक्षविज्ञान अच्छा खासा विकसित था। जिन उपनिषदों एवं अन्य आर्ष ग्रंथों के नाम तक आज की पीढ़ी नहीं जानती वे वृक्ष, जलाशय एवं भूमि की सुरक्षा के लिए कितने समर्पित हैं। भारत की परंपरा में वृक्षपूजा अंधश्रद्धा नहीं थी। पूर्वजों को वृक्षविज्ञान का ज्ञान भी था और एक एक वृक्ष को, उसकी एक-एक टहनी को मनुष्य के अंगों जैसा ही बचाने की, उनका संरक्षण एवं संवर्धन करने की भावना भी थी। इसीलिए उन्होंने विविध वृक्षों में विविध देवताओं के निवास की काव्यमय कल्पना को जन्म दिया। सामान्य लोगों के लिए इस ज्ञान को खूबसूरत परंपराओं में ढालकर उन्होंने सबका सहकार्य एवं सबकी सहभागिता प्राप्त कर समाजजीवन को सुंदर एवं संपन्न बनाया था। हमारा महिलावर्ग बरगद के तने पर धागा लपेटकर उसे जल चढ़ाए या दादीअम्मा पीपल की परिक्रमा करें–मगर सबकी सहभागिता से पेड़ों की सुरक्षा सुनिश्चित की गई थी। अगर आज हम उसे भूल जाते हैं या उसे तुच्छ मानते हैं तो दोषी कौन? चीयरिंग साँग जैसे लोग हमें बताएँगे भी कि 'मिलियंस ऑफ पीपल, मिलियंस ऑफ ट्रीज। वी हेव टू प्रोटेक्ट ट्रीज लाइक पीपल।' और चले जाएँगे हमारी ही ईजाद की हुई 'योगा' की क्लास में और हम घटते जंगल, बढ़ता प्रदूषण और प्रतिवर्ष अनावृष्टि या अतिवृष्टि की मार झेलते हुए खोखले आनंद के लिए अगली क्रिकेट मैच का इंतजार करते रहेंगे। ■

पूर्वजों को वृक्षविज्ञान का ज्ञान भी था और एक एक वृक्ष को, उसकी एक-एक टहनी को मनुष्य के अंगों जैसा ही बचाने की, उनका संरक्षण एवं संवर्धन करने की भावना भी थी।

(लेखिका पर्यावरणविद् व शिक्षाविद् हैं)

इतिहास भी है धर्मांतरण का

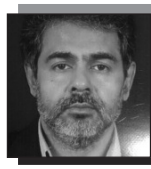

डॉ. अवनिजेश अवस्थी

भारत भू पर सौरस्य व समरसता की शीतल बयार सदियों से बह रही थी, जो विदेशियों के आगमन के बाद बलपूर्वक धर्मांतरण की गर्म हवाओं में बदल गई।

नई कविता हिंदी के एक कवि हुए हैं– भवानीप्रसाद मिश्र–घोषितरूप से गांधीवादी– गांधी-समाधि राजघाट के निकट सन्निधि में ही रहते थे। उनका खंडकाव्य है–'कालजयी'। सम्राट् अशोक के विषय में इतिहास और इसलिए जनमानस में फैली तमाम भ्रांतियों को झुठलाती यह रचना मूलत: तो इस विचार को लेकर लिखी गई है कि केवल कलिंग-युद्ध के कारण ही अशोक का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ था और उसे युद्ध से विरक्ति हो गई थी, बल्कि आरंभ से ही वह स्वभावत: अहिंसक था और वह अहिंसक इसलिए था कि भारतवर्ष की जीवन-शैली, मूल सोच में ही अहिंसा का भाव विराजता है। 'कालजयी' का आरंभ ही इन पंक्तियों से होता है।

''यह कथा व्यक्ति की नहीं
एक संस्कृति की है
पहुँचे हैं धर्म-प्रचारक दुनिया में
सेना के साथ-साथ
लेकर यह मिथ्या अहंकार
करना है दीनों को सनाथ।''

वे आगे लिखते हैं–

''भारत के लोग गए बाहर
लेकिन सेना लेकर न गए
वे जहाँ गए
इसलिए प्रेम के पौधे पनपे नए नए।''

अशोक की कथा में यह भी सर्वस्वीकृति है कि स्वयं बौद्ध धर्म अपनाने के अनंतर उसने अपनी पुत्री-दामाद को बौद्ध धर्म का प्रचार-

प्रसार करने के लिए राज्य एवं देश (उस समय का विश्व मानचित्र वही नहीं था जो आज है) की सीमाओं से भी बाहर भेजा। यह भी सत्य है कि भारतवर्ष में प्रवर्तित हुआ बौद्ध धर्म एक समय में लगभग समूचे एशिया का धर्म हो चुका था किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतवर्ष में प्रवर्तित इस धर्म के प्रचार-प्रसार में कहीं भी, आतंक, युद्ध, तलवार, संघर्ष, लोभ-लालच का एक भी प्रमाण नहीं मिलता, जबकि इस्लाम हो या ईसाइयत इनके प्रचार-प्रसार के संदर्भ ऐतिहासिक प्रमाण ठीक इसके विपरीत हैं–भारतवर्ष का तो इतिहास ही विशेष रूप से गजनी-गोरी के आक्रमणों के पश्चात् तो निरंतर लूट और कत्लेआम का इतिहास ही है–अहमदशाह अब्दाली, नादिरशाह और चंगेज खां के आक्रमणों का वर्णन पढ़ कर तो आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन आक्रमणों के मूल में संपत्ति की लूटपाट के अलावा धर्म-प्रचार अनिवार्यतः था, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। इसलिए आज जब धर्मांतरण का मुद्दा उठता है तो उसके एक निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ को पूरी तरह से नाकारा नहीं जा सकता–गुरु तेग बहादुर, गुरु गोविंद सिंह, महाराणा प्रताप और भाई मतीदास के आत्म-बलिदान को चाह कर भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। धर्मांतरण के संदर्भ में भारतीय समाज की इस जातीय-स्मृति को ध्यान में रखकर ही सम्यक् और विवेकपूर्ण ढंग से सोचा-समझा जा सकता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतवर्ष में प्रवर्तित इस धर्म के प्रचार-प्रसार में कहीं भी भी आतंक, युद्ध, तलवार, संघर्ष, लोभ-लालच का एक भी प्रमाण नहीं मिलता।

यह सत्य है कि भारतीय इतिहास में औरंगजेब के पश्चात् धार्मिक ज्यादतियों के ज्यादा उदाहरण नहीं मिलते–उसका एक कारण चाहे मुगल वंश का धीरे-धीरे पतन होना ही क्यों न हो, लेकिन उसके साथ कारण यह भी रहा होगा कि आखिरकार इस्लाम स्वीकार करने वाले भी इसी समाज के थे–अड़ोसी-पड़ोसी, नाते-रिश्तेदार और मित्र-संबंधी ही थे–इसलिए धर्म-परिवर्तन कर लेने के पश्चात् जो तत्काल दूरी बनी भी थी वह भी धीरे-धीरे कम होती गई–धार्मिक संबंधों की दूरी के बावजूद एक जमीन और संस्कृति के होने की वजह से आपसी संघर्ष ठंडा पड़ता गया और फिर अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् तो इस सत्य का साक्षात्कार हुआ ही कि बेशक कुछ लोगों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया, लेकिन उनका गाँव-जमीं और देश तो एक ही है। अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक सत्ता को स्थापित करने के लिए धर्म के नाम पर एक ही देश और संस्कृति के लोगों के बीच फिर से खाई खोदने का कार्य किया–जो दुर्भाग्य से आज तक बदस्तूर जारी है। आजादी होनी ही चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को किसी मत-पंथ का अनुयायी होने की आजादी हो लेकिन जब यह आजादी धर्म की सीमा से बाहर निकलकर राजनीतिक आजादी की तरफ हाथ बढ़ाने लगे तो चिंता का विषय होना चाहिए–मीनाक्षीपुरम और पूर्वोत्तर की हकीकत को स्वीकार किए बिना क्या कोई सार्थक-संतुलित विश्लेषण हो सकता है? ■

(लेखक हिंदी के प्राध्यापक व पत्रकार हैं)

डॉ. सीतेश आलोक

हिन्दी, देवनागरी और अनुशासन

तब मैं आस्ट्रेलिया में था। वहाँ एक दिन मॅलबर्न में डीकिन यूनिवर्सिटी के डीन, प्रो. फ्रैंसिस ट्रेसी से मिलना हुआ। वहाँ जब उनसे मेरा परिचय कराया गया तो हाथ मिलाते हुए उन्होंने मुस्कराकर मेरी आँखों में देखा–''आप हिन्दी मैं लिखते हैं। मैंने सुना है कि हिन्दी में बिल्कुल वैसे ही लिखा जाता हैं, जैसे बोला जाता है।''

उनकी आँखों मैं आश्चर्य और प्रशंसा का भाव स्पष्ट झलक रहा था।

''जी हाँ, ऐसा ही है।'' देवनागरी के गुण जानते हुए भी मुझे सहसा लगा कि कितनी समृद्ध है हमारी भाषा और हमारी देवनागरी लिपि...संसार की अनेक भाषाओं से अलग। ''लेकिन यह कैसे सम्भव है ? इतनी सारी ध्वनियाँ हैं। उन्हें शब्दों में कैसे बाँध लेती है आपकी लिपि?'' अपनी बात बढ़ाते हुए उन्होंने पूछा। उनके प्रश्न के पीछे कोई जिज्ञासा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

> देवनागरी लिपि की वर्णमाला के अक्षरों द्वारा हिन्दी से इतर भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ लिपिबद्ध नहीं की जा सकतीं–किन्तु कुछेक संशोधनों द्वारा अनेक ध्वनियाँ बड़ी ही सरलता से लिपिबद्ध की जा सकती हैं।

''यह हमारी वर्णमाला का चमत्कार है...'' कहते-कहते मुझे लगा कि वास्तव में बड़ी ही समर्थ है हमारी लिपि, जो सारी...लगभग सारी, ध्वनियों को लिपिबद्ध कर सकती है।

उनसे बात करने के बाद, स्वयं ही मेरा ध्यान देवनागरी की वर्णमाला पर गया और उसके विश्लेषण के प्रयास में मैं चमत्कृत होता चला गया। स्वर और व्यंजनों का वैज्ञानिक विभाजन...और फिर व्यंजनों में क भी उनका वर्गीकरण, अत्यंत तर्क-संगत एवं वैज्ञानिक प्रतीत हुआ। यह वर्णमाला जिह्वा, होंठ, नासिका, मूर्धा, तालु, दंत आदि के सहयोग से क्रमानुसार अनेकानेक ध्वनियों को लिपिबद्ध करने का अनूठा प्रबन्ध है। कवर्ग, चवर्ग आदि के अन्तर्गत पाँच-पाँच वर्ण हैं जो जिह्वा तथा दंत आदि को विभिन्न स्थानों तथा आकार में मिलाकर उत्पन्न होने वाली अनेकानेक ध्वनियों को लिपिबद्ध कर सकते हैं। सभी वर्गों के अंतिम व्यंजन, नासिका द्वारा निकलती हुई एक विशिष्ट ध्वनि देते हैं। हाँ यह अवश्य सच है कि इस देवनागरी लिपि की वर्णमाला के अक्षरों द्वारा हिन्दी से इतर भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ लिपिबद्ध नहीं की जा सकतीं–किन्तु कुछेक संशोधनों द्वारा अनेक ध्वनियाँ बड़ी ही सरलता से लिपिबद्ध की जा सकती हैं। उर्दू में प्रयुक्त अरबी, फारसी की अनेक ध्वनियाँ इसका प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए ख़े, ज़ाल, ज़ोय, फ़े, काफ़ आदि को सरलता से देवनागरी में क्रमशः ख, ज, फ़, क आदि के नीचे बिन्दु लगाने भर से समस्या हल कर ली गई है। भारतीय भाषाओं में तमिल आदि के कुछ उच्चारण हैं जिन्हें ल को कुछ अलग ढंग से लिखकर, लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार, अंग्रेजी की कुछ ध्वनियाँ, जैसे आ तथा औ के बीच की ध्वनि को भी अर्ध-चन्द्र के प्रयोग द्वारा उच्चारण का मार्ग निकला गया है। इस प्रकार देवनागरी में डाक्टर और डौक्टर के बीच का उच्चारण का डॉक्टर लिखकर और लेखनी के लिए पन तथा पेन के बीच का उच्चारण पॅन लिखकर लिपिबद्ध किया जा रहा है।

किन्तु, दूसरी ओर, दुर्भाग्य यह कि स्वयं हिन्दी-भाषी ही अपनी इस विशिष्टता को भुलाते हुए, हिन्दी को सुगम बनाने के नाम पर भाषा को भ्रष्ट करने पर तुले हैं। उच्चारण में भी श के स्थान पर स का प्रयोग करते हुए देश, संदेश, प्रकाश, उपदेश, अवश्य आदि के साथ पर देस, संदेस, प्रकास, उपदेस, तो सुनने में आते ही रहते थे, किन्तु इधर अशुद्ध उच्चारण एवं अशुद्ध लिपि का प्रयोग और भी शब्दों में बढ़ता और तेजी से फैलता दिखाई दे रहा है।

किसी भी भाषा की उत्कृष्टता को बनाए रखने के लिए भाषा-भाषियों से अनुशासन की अपेक्षा की जाती है। उत्कृष्टता, जीवन के किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, अनुशासन माँगती ही है।

अनुशासन के बिना न तो सामाजिक जीवन चलता है और न व्यक्तिगत स्वास्थ्य ठीक रह पाता है किन्तु आधुनिक समाज और जीवन में शार्ट-कट के अभ्यस्त अधिकांश संसारी जीव अपनी काम-चलाऊ जीवन शैली अपनाने से बाज नहीं आते। आप किसी जगह-बेजगह कचरा फेंकने वाले या इधर-उधर थूकने वाले को टोक कर देखिए, तो बड़ी मासूम मुस्कराहट के साथ उसका यही उत्तर सुनने को मिलेगा–'अरे साब, सब चलता है।'

इस 'शार्टकट' का एक प्रमुख रूप लिखित हिन्दी को भी एक अत्यंत भ्रष्ट रूप दे रहा है। बच्चों को सिखाना तो दूर की बात है, अधिकांश शिक्षक स्वयं ही नहीं जानते कि शुद्ध शब्द क्या है और उसे कैसे लिखा अथवा बोला जाए। कभी मुद्रण की जटिलता का हवाला देते हुए, तो कभी हिन्दी के प्रसार के नाम पर उसे सरल बनाने के बहाने, देवनागरी में वर्तनी के साथ बड़ा खिलवाड़ हो रहा है। इसका एक प्रमुख

उदाहरण है बिन्दु, चन्द्र बिन्दु आदि का प्रयोग। फल-स्वरूप आपको दाँत के बदले दांत दिखाई देगा और आँत के स्थान पर आंत। तर्क यह दिया जाता है कि यह सरलता हिन्दी के प्रसार में सहायक होगी, अन्यथा जटिलता के कारण हिन्दी भाषी क्षेत्रों तथा विदेशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार बाधित होगा। तर्क यह भी है कि लिपि में एक-जैसा होते हुए भी पाठक को यह ज्ञान दिया जा सकता है कि अमुक शब्द का, संदर्भ विशेष में, उच्चारण किस प्रकार किया जाए ऐसा तर्क देने वालों के पास अंग्रेजी उर्दू आदि के उदाहरण भी हैं। जैसे लिखित शब्द 'उर्दू' को, उर्दू ही नहीं अरदू भी पढ़ा जा सकता है, अरदो भी और अरदव भी, किन्तु पढ़ने वाला उसे उर्दू ही पढ़ता है और यह भी कि अंग्रेज़ी में 'बी-यू-टी' को कोई बुट नहीं पढ़ता-बट ही पढ़ता है। ये उदाहरण सही अवश्य हैं किन्तु हम सब जानते हैं कि इसके पीछे अंग्रेज़ी, उर्दू आदि के विद्यार्थियों को दी जाने वाली कड़ी 'ट्रेनिंग' रहती है। उर्दू के लिए परिवारों में बचपन से ही शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देने के साथ मक़तबों-मदरसों में छोटी आयु से ही बच्चों को रटाने-पढ़ाने का काम बड़ी सख़्ती से किया जाता है। कुछ यही अनुशासन अंग्रेज़ी शिक्षा में भी है। इतना ही नहीं अंग्रेज़ी के शब्द-कोश उच्चारण के ढंग को, इण्टरनेशनल फ़ोनेटिक अल्फ़ाबॅट (आइ-पी-ए) द्वारा, विस्तृत एवं जटिल प्रणाली में लिखते हैं–जिससे दुनिया के किसी भी कोने में अंग्रेज़ी-पढ़ाने वाला अपना उच्चारण ठीक कर सके। यह ठीक है कि दुनिया में अनेकानेक अंग्रेज़ी बोलने वालों का उच्चारण, कहीं क्षेत्रीय उच्चारण के प्रभाव में तो कहीं समुचित ज्ञान के अभाव में, पूरी तरह शुद्ध नहीं होता, किन्तु उनका शब्द कोश में वर्णित कोई मानक तो है, जिसके इर्द-गिर्द भटककर भी, कोई अंग्रेज़ी-भाषी मूल उच्चारण से बहुत दूर नहीं जा सकता। किन्तु हिन्दी में तो हम

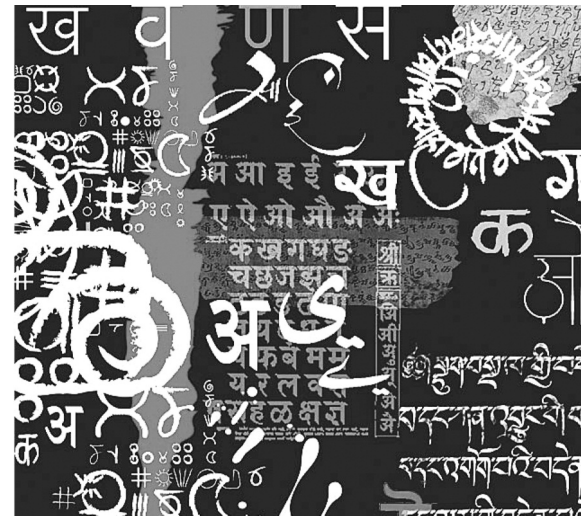

उस 'मानक' से ही खिलवाड़ करते जा रहे हैं। हमारे शब्द-कोश ही शब्दों की वह वर्तनी नहीं देते जो उच्चारण को मार्ग-दर्शन दे सकें। इसका एक सबसे भ्रामक रूप हमें आधे म को 'अं' के रूप में लिखने का मिलता है। फल-स्वरूप, हमें शब्दकोशों में 'संबंध' लिखा दिखाई देता है।

भाषा को सरल अथवा सुगम बनाने के नाम पर प्रकाशकों ने भी आँख बंद करके 'अं' का बिन्दु लगाना प्रारम्भ कर दिया है और अर्ध-चन्द्र का प्रयोग पूरी तरह समाप्त कर दिया है। परिणाम-स्वरूप हमें दाँत, आँत, हँसी, रँगना आदि के स्थान पर क्रमशः दांत, आंत, हंसी, रंगना ही लिखा मिलता है, जिसे पढ़ने वाला सहज ही दान्त, आन्त, हन्सी, रन्गना भी पढ़ सकता है। मैंने नैशनल बुक ट्रस्ट द्वारा बच्चों के लिए प्रकशित एक पुस्तक, एक बच्चे को पढ़ने के लिए दी। उसने पढ़ना प्रारम्भ किया– 'रोहित उस घटना को याद करके हन्स रहा था।'

इस वाक्य में 'हँस' रहा था पढ़ने के स्थान पर, वह 'हन्स' रहा कह रहा था। मुझे उसे समझाने में कई बार प्रयास करके और प्रसन्न होकर हँसने का उदाहरण देकर, उसका उच्चारण ठीक कराना पड़ा,

किन्तु समझाने की प्रक्रिया समाप्त हो जाने के बाद जब पुनः उससे पढ़ने के लिए कहा तो उसने पुनः 'हन्स' रहा ही पढ़ा।

वह बच्चा कोई अपवाद नहीं है। इस प्रकार का उच्चारण-दोष व्यापक है। एक टी.वी. कार्यक्रम में दाँतों की सुरक्षा पर अपना मत देते हुए एक दंत-चिकित्सक बार-बार 'दान्तों' के 'कीटाणुओं' से बचने के उपाय बताते रहे।

इसी प्रकार 'अं' के बिन्दु का उपयोग, 'अर्ध म' के लिए भी प्रचलन में है। सम्बन्ध लिखने के लिए हर जगह, संबंध ही छपा रहता है। अनेक विद्यार्थियों ने मुझसे समय-समय पर पूछा है कि किसी अक्षर पर बिन्दु लगाने से 'अंग' अथवा 'अर्ध न' की ध्वनि तो स्वाभाविक लगती है, किन्तु 'अर्ध म' की ध्वनि कहाँ से आ जाती हैं। 'संबंध' को 'सन्बन्ध' क्यों न पढ़ा जाए? यह कैसे समझा जाए कि 'अं' का बिन्दु स पर तो 'आधे म' की ध्वनि देगा और वही बिन्दु ब पर लगकर 'आधे न' की ध्वनि देगा। भाषा सीखते समय विद्यार्थी यदि शब्द कोश में सम्बन्ध ढूँढ़ने का प्रयास करेगा, वहाँ न पाकर उसे लग सकता है सम्भवतः हिन्दी में ऐसा कोई शब्द होता ही नहीं। यही समस्या सम्भव, सम्वाद, सम्पादन, सम्वेदना, सम्मान, आदि में भी आ सकती है।

कहा जाता है कि अंग्रेज़ी भी हर देश में अलग-अलग ढंग से बोली जाती है। कुछ सीमा तक सत्य होते हुए भी यह तर्क इतना प्रभावी नहीं है कि हमें अपने देश में ही हिन्दी के उच्चारण को बिगाड़ने तथा मनचाहे ढंग से बोलने की छूट मिल जाए।

इसी प्रकार एक शब्द है अम्बर, जो बहुधा अंबर के रूप में ही लिखा-छपा मिलता है। स्वाभाविक है, वह अन्बर भी पढ़ा जा सकता है। इसका दुरुपयोग देखने को मिला। हमारे एक परिचित उर्दू के शायर जनाब अम्बर देहलवी के नाम में। वे अंबर की तर्ज पर उर्दू में अनबर ही लिखते हैं–अलिफ़ नून-बे-रे। मैंने उन्हें नाम के हिज्जे अलिफ़-मीम-बे-रे करने की सलाह दी तो उन्होंने कहा–'भाई जान, इसे पहले अपनी हिन्दी में ठीक कराइए। उर्दू में हम लोग कताब लिख कर भी किताब पढ़ लेने के आदि हैं...अरदो लिखकर भी उर्दू पढ़ लेते हैं।'

उर्दू की अपनी सीमा हो सकती है, हो क्या सकती है...है। अरबी-फ़ारसी लिपि की यह सीमा है। उसमें सभी स्वरों को लिपिबद्ध करने की क्षमता नहीं है और अर्धाक्षरों को या संयुक्त अक्षरों को लिखने की क्षमता तो बिलकुल नहीं है। इस कारण उसमें 'ब्राह्मण' जैसे शब्द लिखे नहीं जा सकते। इस कारण वे उसे 'बरहमन' ही लिखेंगे और बोलेंगे। अंग्रेजी में भी त, थ, ठ, द, ध आदि जैसे स्वरों को लिपिबद्ध करने की कोई विधि नहीं है। उनमें से कुछ को वे कुछ शब्द-समूहों द्वारा समझने तथा बोलने के अभ्यस्त हैं। द के लिए वे टी-एच-ई को मिलाकर काम चलाते हैं। इसी प्रकार थ के लिए भी टी-एच मिलाकर उपयोग करने का विधान है। कहाँ, कौन-सा वर्ण समूह कैसा स्वर देगा यह शब्द-कोशों में आइ.पी.ए. द्वारा सविस्तार वर्णित है। इसकी शिक्षा बच्चों को ही नहीं, शिक्षकों को भी अनिवार्य रूप से दी जाती है। अन्य भाषाओं की सुविधाओं-समस्याओं की बात छोड़कर यह ध्यान देना उचित होगा कि हमारी लिपि जो इतनी समर्थ है, उसका ठीक उपयोग होता रहे। उसे सरल बनाने के नाम पर अनुशासनहीनता को बढ़ावा न दिया जाए। पुनः रेखांकित करने योग्य बात यह है कि किसी भी भाषा में, किसी भी क्षेत्र में

विकास के लिए, उसे सफल एवं अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए शब्द-कर्मियों को अनुशासन का पालन करना होगा। हर अनुशासन में कुछ कठिनाई तो होती ही है, किन्तु अनुशासनहीनता, देर-सबेर, पतन की ओर ही ले जाती है।

यह बात अपनी जगह सच है की स्वयं इंग्लैण्ड में भी एक बहुत बड़ा वर्ग है जो अपनी बोलचाल में शुद्ध अंग्रेजी नहीं बोलता। लंदन के बाज़ार में भी आप 'डे' के स्थान पर 'डाय' और 'एट' के स्थान पर 'आइट' जैसे उच्चारण सुनेंगे। यह विद्यालय भाषा तथा सड़क की भाषा-जैसा अंतर है किन्तु फिर भी उनके पास अपना एक मानक है। वह 'डे' तथा 'एट' से बहुत दूर नहीं जा सकते। 'डाय' सुनकर कहीं कोई 'ढाय' या 'हाय' बोलने तक नहीं भटक पाता।

यह भी सच है कि कुछ अन्य देशों में जहाँ अंग्रेज़ी मातृ-भाषा नहीं है, वहाँ के उच्चारण कुछ क्षेत्रीय प्रभाव के कारण भी बदल जाते हैं। उन्हें अंग्रेज़ी के व्याकरण का भी समुचित ज्ञान न होने के कारण उनकी अंग्रेज़ी कोई अटपटा रूप ले लेती है किन्तु फिर भी एक निर्धारित मानक के प्रभाव में अंग्रेज़ी अपना मूल-रूप बनाए रखने में काफ़ी समर्थ है।

कहा जाता है कि अंग्रेज़ी भी हर देश में अलग-अलग ढंग से बोली जाती है, कुछ सीमा तक सत्य होते हुए भी यह तर्क इतना प्रभावी नहीं है कि हमें अपने देश में ही हिन्दी के उच्चारण को बिगाड़ने तथा मनचाहे ढंग से बोलने की छूट मिल जाए और यदि लिपि ही भ्रामक हो तो भाषा को बिगड़ने से रोकना और भी कठिन हो जाएगा।

अनेक शब्दों में वर्ण-विशेष के नीचे बिन्दु लगाकर अलग ध्वनि को लिपिबद्ध करने का प्रावधान है। ड तथा ढ नीचे बिन्दु लगाने से क्रमशः ड़ (जैसे बड़ा अथवा कड़ा, जड़ा, कड़वा आदि में) और ढ के

नीचे बिन्दु लगाने पर ढ़ (जैसे गढ़, बढ़ई, बढ़िया आदि में) की ध्वनि लिपिबद्ध होती है। किन्तु समुचित अनुशासन अथवा समुचित ज्ञान के अभाव में आपको ढ़ाबा, रोड़ जैसे शब्द जगह-जगह लिखे दिखाई देंगे। सड़क किनारे बने छोटे भोजनालयों में अधिकांश स्थानों पर प्रमुख रूप से बड़े-बड़े शब्दों में 'ढ़ाबा' ही लिखा मिलता है। दिल्ली-अहमदाबाद मार्ग पर बीच के अनेक स्थानों के नाम किसी गंतव्य तक पहुँचने वाले मार्ग के नाम रखे गए हैं– जैसे सोजती रोड, मेड़ता रोड, या आबू रोड। वहाँ सब जगह रोड को रोड़ ही बोला जाता है। इतना ही नहीं रेलमार्ग के सभी स्टेशनों पर भी बड़े-बड़े शब्दों में सोजत रोड़, मेड़ता रोड़, आबू रोड़ आदि ही लिखा दिखाई देता है। मैंने कुछ स्थानों पर उसे शुद्ध करने की बात भी उठाई, किन्तु अनेक 'विद्वानों' ने कहा कि हिन्दी में आर.ओ.ए. डी. को रोड़ ही बोला जाता है।

बिन्दु का दुरुपयोग उर्दू के शब्दों के साथ भी बड़ा अन्याय करता है। अपने सुसंस्कृत एवं उदार दिखने वाले अनेकानेक विद्वान् अपनी बोलचाल में उर्दू के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। शायद उन्हें लगता हो कि वे हिन्दी के ही नहीं, उर्दू के भी निष्णात

विद्वान् हैं या सम्भवतः यह दिखाने के प्रयास में उदारमना अथवा संकीर्ण मानसिकता से कहीं ऊपर उठे हुए, हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर हैं किन्तु अपने सम्भाषण में वे उर्दू के साथ कितना अन्याय कर रहे हैं, यह वह भूल जाते हैं। देवनागरी में लिखे उर्दू शब्दों में नीचे लगे बिन्दुओं को अनदेखा करने के कारण अथवा, जैसा कि बहुधा देखा जाता है छपे उर्दू शब्दों में बिन्दु न होने के कारण, 'ख़ुदा' को खुदा या ज़रूरत 'जरूरत' बोलते रहते हैं इसका एक व्यापक दुरुपयोग है–ग़ज़ल को 'गजल' कहना। अनेक हिन्दी के कवि आजकल 'ग़ज़ल' लिखने लगे हैं। इसके पीछे यदाकदा अपने को विद्वान तथा उदार दिखाने का लोभ भी होता है। वे मंच पर बड़ी ज़ोर से कहते हैं–''अब मैं आपको एक गजल सुनाऊँगा।'' कुछ उर्दू समझने वाले यह अशुद्ध उच्चारण सुनकर अपनी हँसी नहीं रोक पाते और यदि कोई भूल से उनका उच्चारण सुधारने का प्रयास करता है तो वे साधिकार कहते हैं कि–''उर्दू में जो भी हो, हिन्दी में इसे 'गजल' ही कहा जाता है।''

अशुद्ध वर्तनी में लिखने से एक दुविधा और उत्पन्न होती है। हम, लेखन में, किसी के उच्चारण दोष का वर्णन नहीं कर सकते।

अशुद्ध वर्तनी में लिखने से एक दुविधा और उत्पन्न होती है। हम, लेखन में, किसी के उच्चारण दोष का वर्णन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए यदि कोई लेखक किसी चरित्र का वर्णन करते समय उसका उच्चारण-दोष दिखाना चाहे–जैसे कोई चरित्र ख़ुदा के स्थान पर खुदा और ज़रूरत को जरूरत बोलता है तो वह दोनों उच्चारणों का अन्तर किस प्रकार लिखेगा और पाठक उस चरित्र को कैसे ग्रहण करेंगे?

शब्दों के दुरुपयोग के अनेक और उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। जैसे, उसी विद्वता एवं 'उदारता' के नाम पर अक्सर हालातों, काग़जातों और जज़्बातों-जैसे शब्द भी प्रतिदिन ही सुनने में आते हैं–साधारण वार्तालाप में ही नहीं, फ़िल्मों तथा धारावाहिकों में भी और दूरदर्शन, आकाशवाणी के समाचारों-वार्ताओं में भी। साधारण-सी बात यह है कि हालात, काग़जात, जज़्बात आदि स्वयं ही बहुवचन हैं उन्हें हालातों, जज़्बातों आदि कहना अशुद्ध ही नहीं, बोलने वाले की अज्ञानता का परिचायक भी है। उसपर भी, हद तब हो जाती है जब इन शब्दों में से नीचे लगे बिन्दु हटा लिए जाएँ या उन्हें जजबातों, कागजातों बोला जाए। ऐसी ही मूर्खता तब प्रकट होती है जब कोई अपना अंग्रेजी-ज्ञान दिखाने के लिए 'मोर बैटर' या 'सबसे बैस्ट' बोलता है। 'बॅटर' का अर्थ स्वयं ही अपेक्षाकृत अच्छा होता है और 'बॅस्ट' का अर्थ स्वयं ही सर्वोत्तम होता है। कभी आपने ऐसे वाक्य भी सुने होंगे, जैसे ''स्कूल में 200 चिल्डरेंस पढ़ते हैं'' या ''यह कपड़े विमंस पहनती हैं'' किन्तु ऐसे शब्द-प्रयोग हमें आए-दिन सुनने को मिलते हैं।

कुछ विचित्र प्रयोग मुहावरों अथवा शब्द-प्रयोग में आ गए हैं–एक उदाहरण है 'आरामदायक'। इसे गंगा-जमुनी भाषा का नाम देने वाले पूर्णरूपेण स्वाभाविक और भाषा को सामर्थ्य प्रदान करने वाला कहेंगे। किन्तु ऐसी 'खिचड़ी' का प्रयोग अनावश्यक प्रतीत होता है–विशेषरूप से यह जानते हुए कि हिन्दी में इसके लिए सुखप्रद, सुखदायी, सुविधाजनक जैसे अनेक शब्द हैं और उर्दू में भी इसके लिए आरामदेह और आरामरसाँ जैसे शब्द हैं। हम व्यर्थ ही हिन्दी में

हिन्दी में उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है—कुछ तो स्वयं अपनी भाषा का समुचित ज्ञान न होने के कारण और कुछ अन्य भाषाओं में भी अपना ज्ञान दिखाने की प्रवृत्ति के कारण।

आरामदायक धड़ल्ले से लिखते-बोलते रहते हैं।

हर भाषा में वाक्य विन्यास, जिसे अंग्रेजी में 'संटॅक्स' कहते हैं, का एक विशेष प्रारूप होता है जैसे हिन्दी में 'मैं जा रहा हूँ' कहा जाएगा; 'वह जा रहा है' कहा जाएगा; 'तुम जा रहे हो' कहा जाएगा, किन्तु अगर यदि कर्ता के साथ वाले क्रिया-पद में अदला-बदली की जाए तो वाक्य हास्यप्रद बन जाएगा–जैसे मैं जा रहे हो...या तुम जा रहा हूँ।

इसी प्रकार भाषाओं में कुछ शब्दों के उपयोग के लिए भी नियम हैं, जैसे हिन्दी में नाम के साथ सम्मान-सूचक शब्द नाम से पहले लगते हैं, कुछ बाद में। श्रीमान, श्रीयुत आदि नाम से पहले और जी, नाम के बाद लगाने का प्रचलन है और सम्भवतः इस कारण भी कर्णप्रिय लगते हैं। इनका स्थान परिवर्तन अटपटा लगेगा। इसी प्रकार उर्दू के भी अपने नियम हैं किसी दिवंगत व्यक्ति का उल्लेख करते समय उसके नाम के बाद मरहूम कहने/लिखने की रवायत है, जबकि इसके विपरीत हिन्दी में नाम से पहले स्वर्गीय लगाने की प्रथा है। यदि उर्दू में बोलते लिखते समय कोई नाम से पहले मरहूम लगाए तो सुनने/पढ़ने वालों को खटकेगा। इसी प्रकार हिन्दी बोलते/लिखते समय कोई नाम के बाद स्वर्गीय लगाए तो अटपटा लगेगा। इसी प्रकार विविध शब्दों के साथ क्रियापद का प्रयोग भी विभिन्न भाषाओं में अलग होता है। जैसे हिन्दी में खाना खाया जाता है; पानी पिया जाता है; अंग्रेज़ी में 'ईट' का प्रयोग होता है। हम हिन्दी अथवा उर्दू में खाना ईट लो कह कर उपहास के पात्र ही बन सकते हैं। उदारहण अनेक हो सकते हैं। शराब पीने को जहाँ हिन्दी में मदिरापान कहते हैं, वहीं उर्दू में बादःनोशी या बादःख़्वारी कहते हैं। गंगा-जमनी भाषा के नाम पर भी, मदिरा-नोशी या मदिरा-ख़्वारी कहना नितान्त अनावश्यक है, अटपटा भी किन्तु अनेक मुहावरे हैं जो सम्भवतः अज्ञानतावश, अथवा अपना उर्दू-ज्ञान दिखाने के उत्साह में, अपने अटपटे रूप में सुनने/पढ़ने को मिलते ही रहते हैं। 'उपहास उड़ाया' भी ऐसा ही शब्द-प्रयोग है, जब कि वास्तविकता यह है कि हिन्दी में 'उपहास किया' का प्रचलन है, और उर्दू में 'मज़ाक किया' अथवा 'मज़ाक उड़ाया' होता है। कभी-कभी हिन्दी में अंग्रेज़ी के बढ़ते घालमेल को देखते यह डर भी लगता है कि निकट भविष्य में शायद यह पढ़ने-सुनने को भी मिले कि उसने मेरा उपहास 'फ़्लाई' किया।

हिन्दी में, उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है–कुछ तो स्वयं अपनी भाषा का समुचित ज्ञान न होने के कारण और कुछ अन्य भाषाओं में भी अपना ज्ञान दिखाने की प्रवृति के कारण। कभी-कभी हिन्दी में उर्दू के शब्द मिलाकर बोलने-लिखने वाले अपनी उदारता दिखाने के प्रयास में भी उर्दू के शब्द, भाषा में मिलाने का प्रयास करते है। अंग्रेज़ी के शब्द मिलाकर लोग यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वे काफ़ी पढ़े-लिखे हैं। एक-दूसरे की देखा-देखी व्यवहार में खिचड़ी भाषा का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

कुछ लोगों का तर्क यह भी है कि अपनी शब्दावली में अंग्रेज़ी अथवा अन्य भाषाओं के शब्द मिलाने से हिन्दी अधिक समर्थ बनती है। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि अंग्रेज़ी डिक्शनरी में अनेक यूरोपीय भाषाओं के शब्द हैं, अनेक हिन्दी के शब्द भी हैं यह तर्क देने वाले कभी यह देखने अथवा समझने का प्रयास नहीं करते कि अंग्रेज़ी की डिक्शनरी में कौन से हिन्दी शब्द सम्मिलित किए गए हैं–और क्यों किए गए हैं ? इस दिशा में थोड़ा-सा भी प्रयास किया जाए तो समझ में आ जाएगा कि अंग्रेजी शब्दकोश में हिन्दी के केवल वे ही शब्द लिए हैं जो उनकी भाषा अथवा संस्कृति में नहीं हैं–जैसे धर्म, धोती, चपाती आदि। अंग्रेज़ी शब्द कोश में कहीं भी आपको माता, पिता, मंदिर, पुस्तक, शरीर, हृदय, नाक, कान, हाथ, गेहूँ, कपास, आलू, लोहा जैसे हज़ारों शब्द नहीं मिलेंगे जिनके लिए अंग्रेज़ी में पहले से ही कोई शब्द है। अंग्रेज़ी में, भारत के ही नहीं अनेक देशों के शब्द भी समाहित करने की आवश्यकता अंग्रेजों को इस कारण भी पड़ी कि उनका साम्राज्य संसार के अनेक देशों में फैला था। अंग्रेज़ों को उन देशों को थोड़ा-बहुत समझने के लिए तथा वहाँ शासन करने के लिए ऐसे स्थानीय शब्दों को अपनाना पड़ा जो उनकी भाषा में नहीं थे।

अपनी भाषा के समुचित ज्ञान और उसके सम्मान के साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम अन्य किसी भाषा का अपमान न करें।

हिन्दी के सामने न तो कोई ऐसी स्थिति थी और न कोई ऐसी विवशता। यहाँ की प्रजा तो अंग्रेजों के गोरे चमड़े और उनकी आर्थिक समृद्धि के आतंक में उनकी भाषा की नक़ल करने लगी। हिन्दी भाषियों को किसी भी रूप में कूप-मंडूक बने रहने की आवश्यकता नहीं। जो शब्द हमारी भाषा में नहीं हैं, जो वर्तमान सभ्यता की देन हैं, जैसे राशन कार्ड, रेल, कम्प्यूटर, इण्टरनॅट, मोटर कार या पॅट्रोल, डीज़ल आदि, उनका प्रयोग ज्यों का त्यों करने में कोई बुराई नहीं है। किन्तु डैडी, मम्मी, संडे-मंडे, स्टूडेंट, स्टोरी, पोइट्री आदि शब्द, जिनके लिए हमारी भाषा में अनेक प्रचलित शब्द हैं, उनका अपने वाक्यों में प्रयोग अनावश्यक ही नहीं हास्यस्पद भी लगता है।

इसी प्रकार कुछ उर्दू के शब्द भी हमारी शब्द-सम्पत्ति में आ मिले हैं। उनमें ग़ज़ल तो है ही, झटका और हलाल जैसे कुछ तकनीकी शब्द भी हैं मस्जिद भी है और अज़ान, रोज़ा और दरगाह जैसे शब्द भी हैं उन्हें हिन्दी में आवश्यकतानुसार अपनाने में किसे आपत्ति हो सकती है किन्तु इतनी अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि हम उनका उच्चारण न बिगाड़ें। ग़ज़ल को गजल न कहें; खुदा को खुदा न कहें। किसी भी भाषा का अशुद्ध रूप में प्रयोग उस भाषा का अपमान करने-जैसा है।

इस संदर्भ में एक घटना याद आती है। सुपरिचित कवि-सांसद बालकवि बैरागी बताते हैं कि उन्होंने अपने जीवन पर आधारित एक पुस्तक की पांडुलिपि–'मँगते से मिनिस्टर तक' श्री सोहन लाल द्विवेदी को पढ़ने तथा उनकी प्रतिक्रिया पाने के लिए दी। उस समय जो टंकण की व्यवस्था थी उसमें टाइपराइटर में अर्थ-चन्द्र बनाने का प्रावधान नहीं था। पांडुलिपि के शीर्षक में मँगते की जगह 'मंगते' छप गया था। उसे देखते ही द्विवेदी जी ने पांडुलिपि लौटा दी। उन्होंने कहा कि 'जब कोई अशुद्ध हिन्दी लिखता है तो मुझे लगता है कि वह मेरी माँ को गाली दे रहा है'? ■

(लेखक वरिष्ठ साहित्यकार हैं)